

जिनभाषित

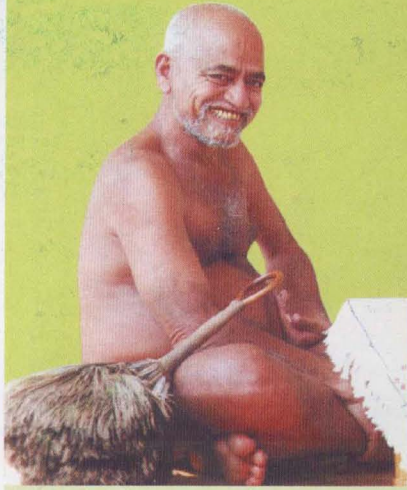
वीर निर्वाण सं. 2536



श्री दि. जैन मन्दिर, अमरपाटन
(सतना, म.प्र.) में विराजमान
भव्य जिनप्रतिमा

कार्तिक-मार्गशीर्ष, वि.सं. 2066

अक्टूबर, 2009



करुणारस और शान्तरस में भेद - 2

आचार्य श्री विद्यासागर जी

करुणा तरल है, बहती है
पर से प्रभावित होती झट-सी।
शान्त-रस किसी बहाव में
बहता नहीं कभी
जमाना पलटने पर भी
जमा रहता है अपने स्थान पर।
इस से यह भी ध्वनि निकलती है कि
करुणा में वात्सल्य का
मिश्रण सम्भव नहीं है
और
वात्सल्य को हम
पोल नहीं कह सकते
न ही कपोल-कल्पित।

महासत्ता माँ के
गोल-गोल कपोल-तल पर
पुलकित होता है यह वात्सल्य।
करुणा-सम वात्सल्य भी
द्वैत-भोजी तो होता है
पर, ममता-समेत मौजी होता है,
इसमें
बाहरी आदान-प्रदान की प्रमुखता रहती है,
भीतरी उपादान गौण होता है
यही कारण है, इसमें
अद्वैत मौन होता है।

करुणा-रस जीवन का प्राण है
घम-घम समीर धर्मी है।
वात्सल्य-जीवन का त्राण है
धवलिम नीर-धर्मी है।
किन्तु, यह
द्वैत-जगंत की बात हुई,
शान्त-रस जीवन का गान है
मधुरिम क्षीर-धर्मी है।

करुणा-रस उसे माना है, जो
कठिनतम पाषाण को भी
मोम बना देता है,
वात्सल्य का बाना है
जघनतम नादान को भी
सोम बना देता है।
किन्तु, यह लौकिक
चमत्कार की बात हुई,
शान्त-रस का क्या कहें,
संयम-रत धीमान को ही
'ओम्' बना देता है।
जहाँ तक शान्त रस की बात है
वह आत्मसात् करने की ही है
कम शब्दों में
निधेष-मुख से कहूँ
सब रसों का अन्त होना ही-
शान्त रस है।
यूँ गुणगुनाता रहता
सन्तों का भी अन्तः प्रान्त वह।
..... धन्य!

मूकमाटी (पृष्ठ १५६-१५७) से साभार

मूकमाटी (पृष्ठ १५९-१६०) से साभार

अक्टूबर 2009

मासिक

वर्ष 8,

अङ्क 10

जिनभाषित

सम्पादक
प्रो. रतनचन्द्र जैन

कार्यालय

ए/2, मानसरोवर, शाहपुरा
भोपाल- 462 039 (म.प्र.)
फोन नं. 0755-2424666

सहयोगी सम्पादक

पं. मूलचन्द्र लुहाड़िया, मदनगंज किशनगढ़
पं. रतनलाल बैनाड़ा, आगरा
डॉ. शीतलचन्द्र जैन, जयपुर
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत
प्रो. वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ
डॉ. सुरेन्द्र जैन 'भारती', बुरहानपुर

शिरोमणि संरक्षक

श्री रतनलाल कँवरलाल पाटनी
(मे. आर.के.मार्बल)
किशनगढ़ (राज.)
श्री गणेश कुमार राणा, जयपुर

प्रकाशक

सर्वोदय जैन विद्यापीठ
1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी,
आगरा-282 002 (उ.प्र.)
फोन : 0562-2851428, 2852278

सदस्यता शुल्क

शिरोमणि संरक्षक 5,00,000 रु.
परम संरक्षक 51,000 रु.
संरक्षक 5,000 रु.
आजीवन 1100 रु.
वार्षिक 150 रु.
एक प्रति 15 रु.
सदस्यता शुल्क प्रकाशक को भेजे।

अन्तस्तत्त्व

पृष्ठ

- ◆ काव्य : करुणारस और शान्तरस में भेद-२ : आचार्य श्री विद्यासागर जी आ.पृ. 2
- ◆ काव्य : दश धर्म : मुनि श्री योगसागर जी आ.पृ. 3
- ◆ सम्पादकीय : हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा में प्रमत्तयोग एवं अनर्थदण्ड 2
- ◆ प्रवचन : क्या श्रमणाभास पूजनीय हैं? : आचार्य श्री विद्यासागर जी 9
- ◆ लेख
 - जैन कर्म सिद्धान्त : स्व० पं० मिलापचन्द्र जी कटारिया 11
 - आचार्य शुभचन्द्र और उनका ज्ञानार्णव : श्री वसन्त कुमार जैन, मेरठ 14
 - दिग्विजय-आलेख पर टिप्पणी : मूलचन्द्र लुहाड़िया 17
 - सामयिक / सामायिक : स्वरूप और विधि : डॉ० पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य 21
- ◆ जिज्ञासा-समाधान : पं. रतनलाल बैनाड़ा 23
- ◆ ग्रन्थ समीक्षा : मूकमाटी-मीमांसा : दिव्यप्रेम के काव्य की मीमांसा : डॉ० तालकेश्वर सिंह 26
- ◆ काव्य : स्वयम्भूस्तोत्र का पद्यानुवाद : पं० निहालचन्द्र जैन 16
- ◆ समाचार 13, 32

लेखक के विचारों से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

'जिनभाषित' से सम्बन्धित समस्त विवादों के लिये न्यायक्षेत्र भोपाल ही मान्य होगा।

हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा में प्रमत्तयोग एवं अनर्थदण्ड

‘जैन गजट’ के २ जुलाई २००९ के अंक में पृष्ठ ३ पर मुनि श्री क्षमासागर जी के किसी प्रवचन का अंश छपा है, जिसका शीर्षक है ‘हेलीकॉप्टर द्वारा पुष्पवृष्टि : एक विचारणीय दृष्टि’। इसमें मुनि श्री क्षमासागर जी के निम्नलिखित शब्द उद्धृत किये गये हैं-

“यदि जैनधर्म में से अहिंसा को अलग कर दिया जावे, तो जैनधर्म में कुछ शेष नहीं बचता। अहिंसा जैनधर्म का आधार है। मैं तो कहता हूँ कि जो श्रावक / साधु धार्मिक अनुष्ठानों में हेलीकॉप्टर के मध्यम से फूलों की वर्षा कराते हैं, वे दोनों हिंसक हैं, साधु भी और श्रावक भी। यह ही नहीं, जो श्रावक हेलीकॉप्टर के माध्यम से फूलों की वर्षा देखने जाते हैं, उन्हें भी अनुमोदना करने से हिंसा का दोष लगता है। उन्हें देखने भी नहीं जाना चाहिए। अतः धार्मिक अनुष्ठानों से हेलीकॉप्टर का निषेध किया जाना चाहिए। यही नहीं, जिस श्रावक-दातार का पैसा हिंसा के कार्यों में लगता है, उसको भी दोष लगता है और पापकर्म का बन्ध होता है। भगवान् महावीर ने हमें मुख्य सूत्र दिया है- ‘अहिंसा परमो धर्मः’ और ‘जियो और जीने दो।’ देखने में आता है कि धार्मिक अनुष्ठानों में, जैसे पंचकल्याणक, विधानों, आदि में हेलीकॉप्टर के माध्यम से फूलों की वर्षा कराई जाती है और इसी प्रकार मुनिराजों आदि के नगरप्रवेश, केशलोंच समारोह आदि में भी हेलीकॉप्टर के द्वारा फूलों की वर्षा करायी जाती है। आपने कभी सोचा है ऐसा करने से धर्म की प्रभावना हो रही है या जीवों की हिंसा हो रही है? हेलीकॉप्टर जब स्टार्ट किया जाता है, तब उसकी आवाज से अनेक सूक्ष्म जीवों का मरण हो जाता है और जब यह आकाश में चलता है, तो लाखों जीवों की हिंसा होती है। जहाँ हिंसा हो रही है, क्या हम इसे धर्मप्रभावना कह सकते हैं? यदि कुछ श्रावक/साधु इसे धर्म मानते हैं, तो वे महावीर भगवान् के अनुयायी नहीं हैं। वे ‘अहिंसा परमो धर्मः’- आगम के विपरीत कार्य कर रहे हैं।”

‘जैनगजट’ के सम्पादक महोदय ने उपर्युक्त उद्धरण के नीचे यह उल्लेख नहीं किया कि उसे उनके पास किसने प्रेषित किया है और मुनि श्री क्षमासागर जी के किस प्रवचन का यह उद्धरण है?

बहुचर्चित विद्वान् पं० हेमन्त काला, इन्दौर (म० प्र०) ने ६ अगस्त २००९ के जैनगजट में पृष्ठ ४ पर अपना एक इण्टरव्यू प्रकाशित कराकर पूज्य मुनिश्री के उपर्युक्त मत को गलत ठहराया है। वे अपने इण्टरव्यू में अपने कथन का मतलब समझाते हुए कहते हैं- “मतलब यही कि आरम्भी, उद्योगादि कार्यों व उपभोगादि क्रियाओं में प्रमाद का सद्भाव होने से, उनमें प्रयुक्त होनेवाले यंत्रादि व द्रव्यादि का जहाँ तक बन सके, वहाँ तक परिहार करो व परिहार न बन सके, तो प्रतिक्रमण-प्रायश्चित्त करो, क्योंकि उन्हें चाहे जितने यत्नाचार से करो, वहाँ अल्पफल बहुविघात ही है, किन्तु पंचकल्याणकादि कार्यों में प्रमाद का अभाव होने से उन्हें जितनी भव्यता से कर सकते हो, उतनी भव्यता से करो, क्योंकि वहाँ ‘सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ’ सूत्र का सद्भाव है।”

पूजादानादि धार्मिक क्रियाएँ भी आरंभाश्रित अत एव प्रमादयुक्त

माननीय हेमन्त काला जी का यह कथन सर्वथा आगम विरुद्ध है कि पंचकल्याणकादि कार्यों में प्रमाद का अभाव होता है। आचार्य वीरसेन स्वामी ने कहा है कि भगवान् द्वारा उपदिष्ट दानपूजादि की क्रियाएँ भी आरंभ हैं, अत एव प्रमादभाव से युक्त होती हैं। एक शंका उठाकर उसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं-“चउवीस वि तित्थयरा सावज्जा छज्जीवविराहणहेउसावयधम्मोवएसकारित्तादो। तं जहा-दाणं पूजा सीलमुववासो चेदि चउव्विहो सावयधम्मो। एसो चउव्विहो वि छज्जीवविराहओ, पयण-

पायणागिसंधुक्खण- जालण-सूदि-सूदाणादिवावारेहि जीवविराहणाए विणा दाणाणुववत्तीदो। तरुवर-छिंदणछिंदावणिट्टपादण-पादावण-तद्दहण-दहावणादिवावारेण छज्जीवविराहणहेउणा विणा जिणभवण-करण-करावणण्णाहाणुववत्तीदो। ण्हवणोवलेवण संमज्जण-छुहावण-फुल्लारोवण-धूवदहणादिवावारेहि जीववहाविणा-भावीहि विणा पूजाकरणाणुववत्तीदो च।” (जयधवला / क० पा० / भाग १ / गाथा १ / अनुच्छेद ८२ / पृष्ठ ९१)।

अनुवाद- शंका “चौबीसों तीर्थकर सावद्य (सदोष) हैं, क्योंकि उन्होंने षट्कायिकजीवों की विराधना के कारणभूत श्रावकधर्म का उपदेश दिया है। उदाहरणार्थ- दान, पूजा, शील और उपवास ये चार श्रावकों के धर्म हैं। यह चारों प्रकार का श्रावकधर्म छह कार्य के जीवों की विराधना का कारण है, क्योंकि भोजन का पकाना, पकवाना, अग्नि का सुलगाना, अग्नि का जलाना, अग्नि का खूतना और खुतवाना आदि व्यापारों से होनेवाली जीव विराधना के बिना आहार-दान संभव नहीं। उसी प्रकार वृक्ष का काटना और कटवाना, ईंटों का गिराना और गिरवाना तथा उनको पकाना और पकवाना आदि छह काय के जीवों की विराधना के कारणभूत व्यापार के बिना जिनभवन का निर्माण करना अथवा करवाना असंभव है। तथा प्रक्षाल करना, अवलेव करना, सम्मार्जन करना, चन्दन लगाना, फूल चढ़ाना और धूप का जलाना आदि जीववध के अविनाभावी व्यापारों के बिना पूजा करना नहीं बन सकता।”

वीरसेन स्वामी इस शंका का निवारण करते हुए लिखते हैं कि “यद्यपि तीर्थकर श्रावकों को उपर्युक्त जीवविराधना-कारक दानपूजादि क्रियाओं को करने का उपदेश देते हैं, तो भी उन्हें कर्मबन्ध नहीं होता, क्योंकि जिनदेव के कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम और कषाय प्रत्ययों का अभाव हो जाता है, इसलिए सातावेदनीय को छोड़कर शेष कर्मों के बन्ध का अभाव हो जाता है।” देखिए उनके शब्द-

“एत्थ परिहारो उच्चदे। तं जहा-जइ वि एवमुवदिसंति तित्थयरा तो वि ण तेसि कम्मबंधो अत्थि, तत्थ मिच्छत्तासंजमकसायपच्चयाभावेण वेयणीयवज्जासेसकम्पाणं बंधाभावादो।” (जयधवला / क० पा० / भाग १ / अनुच्छेद ८३ / पृष्ठ ९२)।

इस कथन से स्पष्ट होता है कि दानपूजादि धार्मिक क्रियाओं के लिए की जानेवाली उपर्युक्त जीव-विराधक क्रियाएँ कर्मबन्ध का कारण हैं। उन्हें करने का उपदेश देने से तीर्थकरों को बन्ध इसलिए नहीं होता कि उनके कर्मबन्ध के कारणभूत मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और प्रमाद प्रत्ययों का अभाव हो जाता है। इससे यह बिना कहे ही फलित होता है कि जिन मनुष्यों के उक्त चार प्रत्ययों का अभाव नहीं हुआ, उन्हें उपर्युक्त क्रियाओं से बन्ध अवश्य होता है। इससे सिद्ध है कि दानपूजादि के लिए की जानेवाली उपर्युक्त जीवविराधक क्रियाएँ आरंभ हैं। वीरसेनस्वामी ने निम्नलिखित प्राचीन गाथा (ज. ध. / क. पा. / भा. १ / पृ. ९६) उद्धृत कर उनके आरंभ होने का स्पष्ट शब्दों में कथन किया है-

तित्थयरस्स विहारो लोअसुहो णोव तत्थ पुण्णफलो।

वयणं च दाणपूआरंभयरं तं ण लेवेइ॥ ५४॥

अनुवाद- “तीर्थकर का विहार संसार के लिये सुखकर है, परन्तु उससे तीर्थकर को पुण्यफल प्राप्त नहीं होता। तथा उनके दान-पूजा आदि आरंभ करने का उपदेश देनेवाले वचन, उनके लिए पापबन्ध के कारण नहीं हैं।”

इस तरह जिनागम में दान-पूजा आदि धार्मिक क्रियाओं को स्पष्ट शब्दों में आरंभ कहा गया है। ‘आरंभ’ कहे जाने से सिद्ध है कि वे प्रमत्तयोगपूर्वक अर्थात् स्थावरकायिक जीवों की रक्षा का प्रयत्न न करने पर ही होती हैं। श्री हेमन्त काला जी ने भी ‘आरंभ’ में प्रमत्तयोग का सद्भाव स्वीकार किया है। (देखिए, उनके पूर्वोद्धृत वचन)।

जीवरक्षा का यत्न करने पर अग्निप्रज्वलनादि संभव ही नहीं

यदि प्रमत्तयोग न किया जाय अर्थात् जीवरक्षा के लिए यत्नाचार किया जाय, तो अग्नि-प्रज्वलन, पंखे से हवा का विलोडन, अग्नि से जल को तपाना, वृक्षों से पुष्प-फल तोड़ना इत्यादि स्थावरकायिक जीवों की विराधना के कार्य संभव ही नहीं होंगे, जिससे न तो अभिषेक के लिए प्रासुक जल प्राप्त हो सकेगा, न लड्डू, घेवर आदि नैवेद्य तैयार किया जा सकेगा, न भगवान् को अर्पित करने के लिए पुष्प और फल प्राप्त हो पायेंगे, न दीपक प्रज्वलित किया जा सकेगा, न अग्नि में धूप-दहन संभव होगा, धरती पर रथ आदि का कर्षण भी असंभव हो जायेगा। मण्डप आदि बनाने के लिए पृथ्वी का खनन भी मुमकिन न होगा। इससे सिद्ध है कि दानपूजादि धार्मिक क्रियाएँ प्रमत्तयोग का त्याग कर देने पर अर्थात् स्थावरकायिक जीवों की रक्षा के लिए यत्नाचार करने पर संभव ही नहीं हैं, जैसे मुनियों के लिए संभव नहीं हैं।

इन आरंभरूप क्रियाओं में जो यत्नाचार करने का उपदेश है, वह इनके साथ संभव होनेवाली त्रसविराधना को रोकने के लिए है तथा स्थावरकायिक जीवों की अनावश्यक विराधना अर्थात् अनर्थदण्ड पर अंकुश लगाने के लिए है। किन्तु दानपूजादि के लिए जिन स्थावरकायिक जीवों की विराधना अनिवार्य है, उसे रोकने के लिए यत्नाचार (प्रमत्तयोग के त्याग) का उपदेश नहीं है। यदि उसे रोकने के लिए यत्नाचार का उपदेश हो, तो दानपूजादि क्रियाएँ संभव ही नहीं होंगी। इससे सिद्ध है कि दानपूजादि धार्मिक क्रियाएँ प्रमत्तयोगपूर्वक ही होती हैं। इसीलिए उन्हें सावद्यलेशात्मक (अल्पपापात्मक) कहा गया है। उनसे पापकर्म का बन्ध होता है, किन्तु पुण्यबन्ध उससे कई गुना अधिक होता है, इसीलिए श्रावकों को दानपूजादि धार्मिक क्रियाओं में होनेवाली स्थावरकायिक जीवों की विराधना का निषेध नहीं है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह प्रमत्तयोगपूर्वक नहीं होती।

हिंसा का धार्मिक हिंसा नामक पाँचवा भेद नहीं है

आगम में हिंसा के संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी ये चार भेद ही बतलाये गये हैं। ये चारों हिंसाएँ बुद्धिपूर्वक की जाती हैं, इसलिए प्रयत्तयोगपूर्वक ही होती हैं। इनके अलावा धार्मिक हिंसा नाम का हिंसा का ऐसा कोई पाँचवाँ भेद उपदिष्ट नहीं है, जो प्रमत्तयोग के बिना होता हो। इसलिए धार्मिक क्रियाओं में होनेवाली स्थावरकायिक जीवों की हिंसा आरंभी हिंसा ही है, जो प्रमत्तयोगपूर्वक ही होती है।

चतुर्विध हिंसा का परित्याग और शेष क्रियाओं में यत्नाचार ही अप्रमत्तयोग

जब मनुष्य मुनि बनकर संकल्पी आदि चारों प्रकार की हिंसा से विरत हो जाता है और शयन, आसन (बैठना), स्थान (खड़े होना), चक्रमण (चलना), स्वाध्याय, तपश्चरण आदि (ता. वृ./प्र. सा./गा. २१६) जिन क्रियाओं का परित्याग संभव न होने से उसके लिए करणीय रह जाती हैं, उनमें जब यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, तब वह प्रमत्तयोगरहित होता है। यह बात आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार आचार्य जयसेन ने प्रवचनसार में निम्नलिखित शब्दों में कही है-

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंक्मादीसु।

समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतत्तिय त्ति मदा॥ ११६॥

अनुवाद- “श्रमण सोने, बैठने, खड़े रहने, गमन आदि में जो अयत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है, वह सदा हिंसा मानी गयी है।”

इसका अभिप्राय बतलाते हुए टीकाकार आचार्य जयसेन कहते हैं-“अयमत्रार्थः- बाह्यव्यापाररूपाः शत्रवस्तावत्पूर्वमेव त्यक्त्वा तपोधनैः अशनशयनादिव्यापारः पुनस्त्यक्तो नायाति। ततः कारणादन्त-रङ्गक्रोधादिशत्रुनिग्रहार्थं तत्रापि संक्लेशो न कर्त्तव्य इति।” (ता. वृ./प्र. सा./गा. ११६)।

अनुवाद- “इसका अर्थ यह है- श्रमण संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा नामक बाह्यव्यापाररूप जो शत्रु हैं, उनका पहले ही परित्याग कर चुकता है, किन्तु आहार, शयन आदि का त्याग संभव नहीं

होता, इसलिए अन्तरंग क्रोधादि शत्रुओं के निग्रह के लिए इन क्रियाओं में भी संक्लेश अर्थात् प्रमादरूप अयत्नाचार नहीं करना चाहिए।

इन वचनों से सिद्ध है कि चतुर्विध हिंसा का सर्वथा परित्याग और चलने-फिरने, उठने-बैठने, सोने, आहार ग्रहण करने आदि क्रियाओं में यत्नाचार करने पर ही जीव प्रमत्तयोग से रहित होता है। ऐसा मुनि ही कर सकते हैं। हाँ, श्रावकों में जो डॉक्टर किसी मनुष्य का पूर्ण सावधानी से आपरेशन करता है, फिर भी उसे बचा नहीं पाता, उस डॉक्टर के प्रमत्तयोग का सद्भाव नहीं होता, अत एव हिंसा के पाप का भागी नहीं होता।

यतः दानपूजादि धार्मिक क्रियाएँ आरंभ पर आश्रित होती हैं अर्थात् प्राणियों को पीड़ा पहुँचानेवाले, या प्राणियों के प्राणों का वियोजन करनेवाले व्यापार पर आधारित होती हैं (“आरम्भः प्राणिपीडाहेतुर्व्यापारः”-सर्वार्थसिद्धि/६/१५, “प्राणिप्राण-वियोजनं आरम्भो णाम”-ध्वला/ष. खं./पु.१३/पृ.४६) और यह व्यापार बुद्धिपूर्वक (इच्छापूर्वक) किया जाता है, अतः इसमें प्रमत्तयोग अनिवार्यतः होता है।

श्रावकों के लिए अल्प आरंभ एवं अनर्थदण्डविरति का उपदेश

चूँकि श्रावक आरंभ का परित्याग नहीं कर सकता और उसमें जीवघात होता है, इसलिए ‘पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय’ में श्रावक को अनिवार्य अल्प आरंभ करने और अननिवार्य (निप्रयोजन) आरंभ अर्थात् अनर्थदण्ड का परित्याग करने का उपदेश दिया गया है यथा-

स्तौकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणां सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।

शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम्॥ ७७॥

अनुवाद- “इन्द्रियविषयों का मर्यादित उपभोग करनेवाले गृहस्थों को एकेन्द्रियजीवों के अल्पघात को छोड़कर शेष स्थावर जीवों के घात से विरत होना चाहिए।”

स्थावरकायिक जीवों के अननिवार्य या निष्प्रयोजन घात को जिनागम में अनर्थदण्ड कहा गया है-

“प्रयोजनमन्तरेण वृक्षादिच्छेदनभूमिकुट्टनसलिलसेचनाद्यवद्यकर्म प्रमादाचरितम्।” (सर्वार्थसिद्धि/७/२१)।

अनुवाद- “विना प्रयोजन के वृक्षादि का छेदना, भूमि का कूटना, पानी का सींचना आदि पापकार्य प्रमादाचरित नाम का अनर्थदण्ड हैं।”

श्रावक को तीन गुणव्रतों के अन्तर्गत अनर्थदण्ड से विरति का उपदेश दिया गया है। (रत्नकरण्ड-श्रावकाचार ३/२१)। उपर्युक्त निष्प्रयोजन हिंसा (अनर्थदण्ड) का निषेध गृहकार्य और धार्मिक कार्य दोनों में किया गया है, क्योंकि ऐसा उपदेश कहीं भी नहीं है कि धार्मिक कार्यों में निष्प्रयोजन या अननिवार्य हिंसा की जा सकती है।

हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा में प्रमत्तयोग एवं अनर्थदण्ड

पंचकल्याणकादि धार्मिक उत्सवों में हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा करने या कराने में वायुकायिक और त्रसकायिक जीवों की बुद्धिपूर्वक प्रचुर हिंसा की जाती है। उसके विस्तृत पंखों के तीव्र भ्रमण से वायु-मण्डल का बहुत दूर-दूर तक तीव्र गति से मन्थन होता है, जिससे असंख्य वायुकायिकजीवों का घात होता है और तीव्र ध्वनि से तथा पृथ्वी से ऊपर उठते समय एवं नीचे उतरते समय भूमि पर तीव्र आघात लगने से असंख्य पृथ्वीकायिक एवं त्रसकायिक जीवों की विराधना होती है। और यह बुद्धिपूर्वक की जाती है, इसलिए इसमें अनिवार्यतः प्रमत्तयोग होता है।

वायुयान और हेलीकॉप्टर का आविष्कार होने से पहले जिस परम्परागत मानवीय विधि से पुष्पवर्षा की जाती थी और आज भी प्रायः की जाती है, उससे अल्पहिंसा में पुष्पवर्षा की विधि सम्पन्न हो जाती है। फिर भी हेलीकॉप्टर का प्रयोग कर पुष्पवर्षा के लिए प्रचुर हिंसा की विधि अपनाना निष्प्रयोजन होने से बहुत बड़ा अनर्थदण्ड है।

श्री हेमन्त काला जी कहते हैं कि 'पंचकल्याणकादि धार्मिक कार्य हैं, उनमें हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा करने-कराने से जो जीवघात होता है, उसमें प्रमाद का अभाव होता है। इसलिए कार्यक्रम की भव्यता बढ़ाने के लिए जीवघात कितना भी किया जाय, उसमें हिंसा का दोष नहीं लगता।'

यह एकदम गलत है, सरासर झूठ है, आगम का महान् अपलाप है। पूर्व में आगमवचन उद्धृत करके यह स्पष्ट किया गया है कि प्रमाद (प्रमत्तयोग) का अभाव तब होता है, जब संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी इन चार प्रकार की हिंसाओं का परित्याग कर दिया जाय और सोने, उठने, बैठने, गमन करने आदि में षट्कायिक जीवों की रक्षा का यत्न किया जाय। हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा कराने में जो हिंसा होती है, वह आरंभी हिंसा है। हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा कराने का इच्छुक श्रावक उसका परित्याग नहीं करता, अपितु बद्धिपूर्वक कराता है तथा हेलीकॉप्टर चलानेवाला धरती और आकाश में षट्कायिक जीवों की रक्षा का यत्न नहीं कर सकता। अतः वहाँ प्रमाद ही प्रमाद है। 'काला' जी ने स्वयं वहाँ "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" वचन उद्धृत कर सावद्य (हिंसा) का लेश अर्थात् अल्पहिंसोत्पादक प्रमाद का सद्भाव स्वीकार किया है। यद्यपि यहाँ सावद्य का लेश नहीं, अपितु बाहुल्य है और पुण्यराशि का सद्भाव तो क्या, पुण्यलेश का भी अभाव है, क्योंकि हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा बहुजीवविघातक होने से भक्ति प्रकट करने की जिनागम-सम्मत विधि नहीं है। अतः उसके द्वारा पुण्यबन्ध नाममात्र के लिए भी संभव नहीं है।

यद्यपि मन्दिरनिर्माण आदि में भी बहुहिंसा होती है, तथापि मन्दिरों के माध्यम से जिनशासन की प्राणभूत अहिंसा का चिरकाल तक कई गुना अधिक प्रचार और आचार संभव होता है। किन्तु हेलीकॉप्टर द्वारा पुष्पवर्षा कराने से केवल हिंसा ही होती है, अहिंसा का लेशमात्र भी प्रचार और आचार संभव नहीं होता।

यदि हेलीकॉप्टर के प्रयोग से पंचकल्याणकादि धार्मिक कार्यों में होनेवाले बहुजीवविघात को प्रमत्तयोग-रहित मानकर हिंसा न माना जाय, तो 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' के समान जिनशासन में भी 'धार्मिकी हिंसा हिंसा न भवति' की मान्यता निर्दोष सिद्ध होगी और इससे 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' की मान्यता का औचित्य प्रतिपादित होगा।

जिनागम में देवपूजा आदि के निमित्त से जीवघात करने का निषेध किया गया है। ज्ञानार्णव में आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं-

शान्त्यर्थं देवपूजार्थं यज्ञार्थमथवा नृभिः।

कृतः प्राणभृतां घातः पातयत्यवलम्बितम्॥ ८/१८॥

चरुमन्त्रौषधानां वा हेतोरन्यस्य वा क्वचित्।

कृता सती नैर्हिंसा पातयत्यवलम्बितम्॥ ८/२७॥

अनुवाद- "अपनी शान्ति के लिए, देवपूजा के लिए अथवा यज्ञ के लिए मनुष्यों द्वारा किया गया जीवघात उन्हें शीघ्र ही नरक में ढकेलता है। (८/१८)। इसी प्रकार देवता के लिए नैवेद्य तैयार करने हेतु, मन्त्रसिद्धि हेतु, औषध बनाने हेतु अथवा अन्य किसी कार्य के लिए लोगों के द्वारा की गई हिंसा उन्हें अविलम्ब नरक में पटकती है।

यहाँ केवल जैनेतर धर्मों में धर्म के नाम पर किये जानेवाले पशुवध का ही निषेध नहीं किया गया है, अपितु जैनधर्म में भी स्थावरकायिक जीवों की उस निष्प्रयोजन हिंसा का निषेध किया गया है, जो देवपूजादि की अल्पहिंसात्मक पद्धति को छोड़कर बहुहिंसात्मक पद्धति अपनाने से होती है।

हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा पंचकल्याणकादि-पूजाविधि का अनिवार्य अंग नहीं

पूर्व में पुरुषार्थसिद्धयुपाय की 'स्तौकैकेन्द्रियघाताद्' इत्यादि कारिका उद्धृत की गयी है, जिसमें श्रावकों को स्थावरकायिक जीवों का उतना ही घात करने का उपदेश दिया गया है, जितना जीवनयापन एवं धार्मिक

कार्यों के सम्पादन में अनिवार्य हो। इससे अधिक जीवघात का निषेध किया गया है।

जयधवला (क. पा. / भाग १ / गा. १ / अनुच्छेद ८३ पृ. ९५) में उद्धृत निम्न गाथा में कहा गया है-

सकं परिहरियव्वं असकणिज्जमि णिम्ममा समणा।

तम्हा हिंसायदणे अपरिहरंते कथमहिंसा ॥ ५० ॥

अनुवाद- “साधुओं को जो त्याग करने के लिए शक्य होता है, उसका त्याग करना चाहिए और जिसका त्याग करना अशक्य होता है, उससे ममत्व त्याग देना चाहिए। इसलिये हिंसा के जिस आयतन (हेतु) का त्याग करना संभव है, उसका त्याग न करने पर अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है?”

इससे एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा के विषय में जिनशासन की नीति स्पष्ट हो जाती है। हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा पंचकल्याणकपूजाविधि का अंग नहीं है। उसके बिना भी पुष्पवर्षा संभव है। इसलिए उसके द्वारा किये जानेवाले जीवघात का त्याग शक्य होने से त्याज्य है। अहिंसा का पालन इसी प्रकार संभव है।

हेलीकॉप्टर-पुष्पवर्षा से जिनशासन की प्रभावना असंभव

प्रभावना के नाम पर भी हेलीकॉप्टर द्वारा पुष्पवर्षा का औचित्य नहीं ठहराया जा सकता, क्योंकि उससे जिनशासन की प्रभावना संभव नहीं है। प्रभावना का लक्षण रत्नकरण्डश्रावकाचार में इस प्रकार बतलाया गया है-

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम्।

जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ १/१८ ॥

अनुवाद- “चारों तरफ फैले हुए अज्ञानान्धकार को उचित रीति से दूर कर जिनशासन के माहात्म्य (महिमा) का प्रदर्शन करना प्रभावना है।”

जिनशासन के माहात्म्य को प्रदर्शित करने का अर्थ है जिनशासन में उपदिष्ट तप, ज्ञान आदि के अतिशय को जैनतरों में प्रकट करना- “जिनशासनस्य माहात्म्यप्रकाशस्तु तपोज्ञानाद्यतिशयप्रकटीकरणम्।” (प्रभाचन्द्रटीका / र. क. श्रा. / १ / १८)।

डॉ० पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य उक्त कारिका का आशय प्रकट करते हुए लिखते हैं- “अन्य लोगों के जिनधर्म-विषयक अज्ञान को दूरकर, उन्हें धर्म का वास्तविक ज्ञान कराना प्रभावना है। आज देव, शास्त्र और गुरु के स्वरूप को लेकर जनसाधारण में अज्ञान छाया हुआ है। रागी, द्वेषी देवों की आराधना की जाती है, वीतराग जिनेन्द्रदेव की नग्नमूर्ति का विरोध किया जाता है, जिनशास्त्रों में वर्णित अहिंसाधर्म का उपहास किया जाता है और नग्नमुद्रा के धारक निर्ग्रन्थ गुरुओं के नगरप्रवेश आदि पर आपत्ति की जाती है। इन सबका मूल कारण अज्ञानभाव है। सम्यग्दृष्टि जीव लोगों के इस अज्ञानभाव को दूरकर जिनशासन की महिमा को प्रकट करता है। साथ ही इस बात का ध्यान रखता है कि हमारा कोई आचरण ऐसा न हो कि उसके कारण जैनधर्म का अपवाद होने का प्रसंग आ जावे। वह सदा ऐसा आचरण करता है कि उसे देखकर लोग जैनधर्म के प्रति आस्थावान् होते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष रत्नत्रय के तेज से आत्मा को प्रभावित करता है और दान, तप, जिनपूजा और विद्या के अतिशय से जिनधर्म की प्रभावना बढ़ाता है।” (विशेषार्थ / र. क. श्रा. / १ / १८)।

मूलाचार (गाथा २६४) की आचारवृत्ति में धर्म की प्रभावना के उपायों का वर्णन करते हुए कहा गया है- “त्रिषष्टिशलाकापुरुषों के चरित का व्याख्यान करके, सिद्धान्त, तर्क, व्याकरण आदि की व्याख्या करके अथवा धर्म, पाप आदि के स्वरूप का कथन करके, अभ्रावकाश, आतापन, वृक्षमूल आदि हिंसादिदोषरहित बाह्य योगों के द्वारा, जीवदया और अनुकम्पा के द्वारा, तथा शास्त्रार्थ के द्वारा परवादियों को जीतकर एवं अष्टांग निमित्त, दान, पूजा आदि द्वारा धर्म की प्रभावना करनी चाहिए।”

पंचाध्यायी (उत्तरार्ध, श्लोक ८१८, ८१९) के अनुसार विद्या, मन्त्र आदि के बल द्वारा तथा तप, दान आदि के द्वारा जैनधर्म का उत्कर्ष करना बाह्य प्रभावना अंग है। जो मिथ्यात्व का उत्कर्ष करते हैं, उनका अपकर्ष करने के लिए जो भी चमत्कारकारक क्रिया है, वह महात्माओं को करनी चाहिए।

रत्नकरण्डश्रावकाचार (१/१८) की प्रभाचन्द्रकृत टीका में मंत्र-तंत्र द्वारा चमत्कारप्रदर्शन को भी जिनशासन की प्रभावना का उपाय बतलाया गया है।

भट्ट अकलंक देव ने प्रभावना के स्वरूप एवं उसके उपायों का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है- “परमत-रूपी खद्योतों के उद्योत को आच्छादित करनेवाली ज्ञानसूर्य की प्रभा से, इन्द्र के आसन को कम्पित करनेवाले महोपवास आदि सम्यक् तप से तथा भव्यजन-रूपी कमलसमूह को विकसित करने के लिए सूर्यप्रभा के समान जिनपूजा से सद्धर्म को प्रकट करना मोक्षमार्ग की प्रभावना है।” (तत्त्वार्थवार्तिक/ ६/२४/१२/पृ. ५३०)।

इन वचनों का सार यह है कि जिनशासन में उपदिष्ट ज्ञान, तप, दान, जिनपूजा, दया-अनुकम्पा, सहनशीलता, मैत्रीभाव, पवित्र आचरण, विद्या, मंत्र, तंत्र आदि के अतिशय (उत्कृष्टता) को प्रकट कर जिनशासन के माहात्म्य या अतिशय (उत्कृष्टता) की प्रतीति अजैनों को कराना जिनशासन की प्रभावना है।

हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा जिनशासन के उपर्युक्त गुणों में से किसी भी गुण का अतिशय प्रकट नहीं करती, न ज्ञान का, न दान का, न पूजा का, न अन्य किसी का, क्योंकि वे उसमें दिखाई नहीं देते। उन गुणों का पालन करते हुए दिखाई देनेवाले पुरुषों में ही वे दृष्टिगोचर हो सकते हैं, अतः उनके दर्शन से ही उपर्युक्त गुणों का अतिशय (उत्कृष्टता) प्रकट हो सकता है।

और केवल हेलीकॉप्टर से की जानेवाली पुष्पवर्षा में ऐसा गुण नहीं है, जिसे देखकर अजैनों में जैनधर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाय। हेलीकॉप्टर-पुष्पवर्षा सर्वथा धर्मनिरपेक्ष है, इसीलिए अन्यधर्मावलम्बी भी उसे कराते हैं। जैसे बैण्डबाजे सर्वथा धर्मनिरपेक्ष हैं, अनेक धर्मों के अनुयायी अपने धार्मिक उत्सवों में बैण्ड बजवाते हैं, किन्तु बैण्ड-संगीत किसी भी धर्म में श्रद्धा उत्पन्न नहीं करता, वैसे ही अनेक धर्मों के अनुयायी हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा कराते हैं, किन्तु उसे देखकर दर्शकों के मन में किसी भी धर्म के प्रति आकर्षण उत्पन्न नहीं होता। आकर्षण उत्पन्न होता है केवल बैण्ड के संगीत के प्रति और हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा किये जाने के कुतुहलजनक दृश्य के प्रति।

चूँकि अन्यधर्मावलम्बी भी हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा कराते हैं, अतः वह केवल जैनधर्म का कोई विशिष्ट अनुष्ठान नहीं है। इसलिए उसमें जैनधर्म का अतिशय और अन्य धर्मों का अनतिशय प्रकट करनेवाला गुण नहीं है।

इन कारणों से सिद्ध है कि हेलीकॉप्टर से करायी जानेवाली पुष्पवर्षा जिनशासन की प्रभावना का लेशमात्र भी हेतु नहीं है।

सार यह कि पंचकल्याणकादि धार्मिक उत्सवों में हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा कराना प्रमत्तयोगपूर्वक किया जानेवाला आरंभ है, निष्प्रयोजन होने से प्रमादाचरित नामक अनर्थदण्ड है, जिनोपदिष्ट दान, पूजा, तप आदि गुण उसमें दिखाई नहीं देते, अतः वह इनके अतिशय के प्रकाशन में असमर्थ है, तथा अन्यधर्मावलम्बी भी हेलीकॉप्टर से पुष्पवर्षा कराते हैं, इसलिए वह जैनधर्म का विशिष्ट अनुष्ठान नहीं है अतः उसमें जैनधर्म का अतिशय और अन्यधर्मों का अनतिशय प्रकट करने का गुण नहीं है। इन कारणों से सिद्ध है कि हेलीकॉप्टर-पुष्पवर्षा जिनशासन की प्रभावना का हेतु न होकर केवल बहुहिंसा का कारण है। अत एव अकरणीय है, त्याज्य है।

रतनचन्द्र जैन

क्या श्रमणाभास पूजनीय हैं?

आचार्य श्री विद्यासागर जी

श्री सिद्धक्षेत्र कुण्डलपुर (दमोह, म.प्र.) में मई २००७ में आयोजित श्रुताराधना शिविर में १४ मई २००७ के द्वितीयसत्र में विद्वानों की शंकाओं के समाधानार्थ आचार्यश्री द्वारा किये गये प्रवचन का तृतीय अंश प्रस्तुत है।

पञ्चम काल के अन्त समय तक हम यही कहेंगे जो समन्तभद्र स्वामी ने कहा है।

आज धर्म कम होता जा रहा है, कम होना तो स्वाभाविक है।

शंका- जैन श्रमणाभासों को पूजना चाहिए या नहीं?

समाधान- आपने शुरुआत कर दी तो सुनो। आभास का अर्थ आप जानते हैं 'न विद्यते वस्तुतः इति आभासः' आभास की यह परिभाषा है।

लिङ्ग नहीं रहा, तो वह लिङ्गाभास हो गया। आभास में कमियाँ आ जाती हैं। वैधानिक रूप धारण कर लेती हैं, उन्हें आभास कहते हैं। निश्चय-नयाभास, व्यवहार-नयाभास, उभयनयाभास, तत्त्वनिर्णय के क्षेत्र में ये सभी आभास मिथ्या कहे गये हैं। सुख नहीं सुखाभास, शास्त्र नहीं शास्त्रभास। वह व्यक्ति नहीं, किन्तु व्यक्ति का आभास। आभास के साथ आप जहाँ कहीं भी चलाओ सब भ्रम है। वह कुछ मिलावट के साथ है। लिङ्ग को यदि विकृत कर दिया, तो वह लिङ्गाभास है। उसको हम संविधान का रूप नहीं दे सकते। आप हैं इसलिए उसमें कुछ छूट कर दें? छूट नहीं हो सकती। क्योंकि मुद्रा है। मुद्रा का मतलब मान लो नोट है, उसके दो पहलू हैं। एक तरफ मुद्रा है और एक तरफ सन् वगैरह लिखा है। इन दोनों को देखा जाता है, लिङ्ग बदल दिया जाय, नम्बर गलत हो जाय, तो काम नहीं चल सकता। दोनों हों, तो काम चलेगा। मुद्राभास नहीं होना चाहिए। उसी के माध्यम से आप वस्तु को देंगे और लेंगे। अन्यथा लेन-देन समाप्त हो जायेगा। अब देव-शास्त्र-गुरु के माध्यम से सम्यग्दर्शन की भूमिका बनती है। ऐसी स्थिति में देव को देव के रूप में रखो, गुरु को गुरु के रूप में रखो, शास्त्र को शास्त्र के रूप में रखो। जिसमें हिंसा का ही प्रतिपादन होने लग जाय, वह शास्त्र कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता। जो आस्रव और बंध के लिए कारण है, उसके लिए आप संवर और निर्जरा के लिए कारण कहो और जो संवर, निर्जरा के लिए कारण है उसके लिए आप आस्रव और बंध के लिए कारण

कहो। वह शास्त्र हो ही नहीं सकता। वह विकृत हो गया। अब आप बेचना चाहते हो, प्रचार-प्रसार करना चाहते हो, तो किसी का भी नाम लेते चले जाओ। कुन्दकुन्द स्वामी का नाम ले लो, समन्तभद्र स्वामी का नाम ले लो। जिस किसी का नाम ले लो, लेकिन उसको देकर आप एकान्त मिथ्यात्व का प्रचार कर रहे हैं। भोला ग्राहक तो भ्रमित होकर स्वीकार कर लेगा। लेबल और लेबर में बहुत अन्तर है। लेबल ही सिगनल है। दवाई देखो, पढ़ो, फाड़ो नहीं। लेबल पढ़कर ही निर्णय किया जाता है कि इसमें दवाई है। यह दवाई की शीशी है। कोई पानी भरकर रख जाये और लेबल देखकर ले आओ, ले आओगे? महाराज! पसीना बहाओ तब मुद्रा आती है। लेबल देख लो, नहीं, इसी प्रकार किसी एक महाराज का नाम देख लो। आचार्यप्रणीत है या नहीं? इतना देखना पर्याप्त नहीं होगा। ऊपर से नीचे तक देख लो। अर्थ, भावार्थ, विशेषार्थ आदि भी देख लो। ऊपर के साथ तुलना कर लो। ऐसा भारी प्रचार-प्रसार पहले नहीं होता था, जैसा आज हो रहा है। पहले भी होता होगा, किन्तु आज जैसा नहीं।

लेकिन पहले भी परीक्षाप्रधानी श्रावक रहे होंगे। पहले भी कम संख्या में थे, आज भी कम संख्या में हैं। सभी लोग परख नहीं कर सकते। इतना अवश्य है कि आपकी दुकान में चाहे छोटा सा बालक आ जाय, चाहे ८० साल का वृद्ध आ जाय, आप सही कीमत देख करके यदि उसको वस्तु देते हैं, तो बाजार में आपका नाम बहुत अच्छा होगा। बच्चा है, इसलिए ऐसे कैसे दे दें। नहीं, मानलो कोई छोटा बच्चा है और ५० का नोट लिये है और कहता है कि मुझे चाकलेट दे दो। दुकानदार पूछता है- तुम कहाँ से आये हो, बेटे! बच्चा कहता है हम अमुक जगह से आये हैं। अरे! यह तो गड़बड़ है। ५० रुपये की चाकलेट कैसे दे दें? आज की बात नहीं, उस समय की बात है जब एक पैसे की एक चाकलेट आती थी। आज ५० रुपये में भी एक चाकलेट आती है। उस समय की बात है। अब

दुकानदार कहता है- ऐसे नहीं देंगे, पहले पिताजी से पूछ कर आओ। दौड़ता हुआ पिताजी के पास जाकर पूछ कर आ जाता है। दुकानदार ने बालक से पूछा- क्या कहा उन्होंने? “वह ५० का नोट था। उसमें से कुछ चाकलेट ले लो, बाकी के पैसे लाकर हमें दे दो। चिल्लर हो जायेगी।” उनके पास चिल्लर नहीं थी। दुकानदार ने पूरे ५० रुपये की चाकलेट दे दी। वह भूल गया क्योंकि चाकलेट गिनने में लग गया। उसको मालूम नहीं कि ५० का नोट है या कितने का। ऐसा ही कितने लोगों का हाल हो रहा है। अब आज उनकी वैयावृत्ति, या उनकी चिकित्सा कैसे करें हम। धारणा एक बार बन जाती है बन्धुओ! तो निधत्ति और निकाचित कर्म के लिए भी कारण हो सकती है और अच्छे-अच्छे व्यक्तियों के माध्यम से भी वह निकाचित कर्म छूट नहीं पाता। वह कर्मफल देकर ही जायेगा। ऐसा कर्म का बंधन हो जाये भैया! कषायों के साथ तत्त्वनिर्णय नहीं करना चाहिए। विचार-विमर्श के रूप में यह कहना चाहते हैं। रत्नकरण्डश्रावकाचार में यह लिखा है कि किसी भी रागीद्वेषी देव की पूजा मत करो। आप्त की पूजा करो, ऐसा लिखा है। हाँ देवों के देव हैं, वे ही आप्त हैं। उनकी पूजा करो। इनमें क्षायिक सम्यक्त्व है कि नहीं, सर्वज्ञता है कि नहीं, सर्वदर्शीपना है कि नहीं? यह देखना हमारी बुद्धि का काम नहीं है। यह हमारे श्रद्धान का ही विषय है। बाह्य में हमारे भगवान् कैसे होते हैं? बाह्य से अठारह दोषों से रहित होते हैं। अन्तरंग में अनन्त-चतुष्टय से युक्त होते हैं। अनन्तचतुष्टय में से आप एक चतुष्टय का नाम ले लो। नाम तो ले सकेंगे लेकिन आँखों से नहीं देख सकते। जो नहीं दिखता

उसके बारे में श्रद्धान रखो। इस बात का ध्यान रखना चाहिए। इस प्रकार आगमपद्धति से देव-शास्त्र-गुरु का आलम्बन लेने से दर्शन मोहनीय कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम होता है। षट्खण्डागम आदि में अकाट्य रूप से ऐसा कहा है। जातिस्मरण, देवदर्शन-जिनबिम्बदर्शन, धर्मश्रवण, देवद्विदर्शन आदि को सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण माना है। आज के युग ने एक धर्मश्रवण को ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का साधन बना लिया, बाकी जितने साधन हैं, वे मानों व्यर्थ ही हैं। धर्मश्रवण करने के लिए भी वहाँ पर पक्षपात हो रहा है।

श्रवण करायेंगे हम, आप श्रवण करो, आप कुछ जानते नहीं हो, हम सब जानते हैं। पढ़े लिखे हैं और प्रवचन चालू हो गया। आप पढ़ायेंगे, हम पढ़ेंगे। आप कहेंगे ‘हूँ’ तो कहो ‘हूँ’। नहीं तो हमारा रास्ता ही बंद हो जायेगा। हमारा रास्ता आप पर निर्भर है। लेकिन ऐसा नहीं है। एक बात और कह सकता हूँ कि यदि श्रमण है और ऊपर से कोई लिङ्गाभास नहीं है, तो वह जिनलिङ्ग है। यदि जिनलिङ्ग को सुरक्षित रखा आपने, तो २८ मूलगुणों के साथ उसमें कोई कमी नहीं आई। शैथिल्य अलग वस्तु है। तो निश्चितरूप से, उसके दर्शन करने से तिर्यचों को भी बिना उपदेश के सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाता है। यह निश्चित बात है। ‘देवा वि तस्स पणमंति जस्स धम्मे सया मणो’ भीतर सम्यग्दर्शन है कि नहीं यह आपका विषय है ही नहीं। आपके पास कोई थर्मामीटर नहीं है कि इनके पास रत्नत्रय है या नहीं? ये कुछ ऐसे गंभीर विषय हैं, इनका स्पष्टीकरण कल भी किया जा सकता है।

(शेष अगले अंक में)

‘श्रुताराधना (२००७)’ से साभार

जिनभाषित के आजीवन सदस्यों से निवेदन

‘जिनभाषित’ का मुद्रण-प्रेषण अत्यधिक व्ययसाध्य हो गया है। अतः उसका आजीवन सदस्यता शुल्क 1100 रुपये एवं वार्षिक सदस्यता शुल्क 150 रुपये करने के लिए हम विवश हुए हैं। आजीवन सदस्यों से अनुरोध है कि वे शेष राशि 600 रुपये यथाशीघ्र भेजने की कृपा करें। वे यह राशि SBI Agra- Branch SIB A/c No. 10410062343 में ट्रांसफर कर सकते हैं।

रतनलाल बैनाड़ा, प्रकाशक- ‘जिनभाषित’

सर्वोदय जैन विद्यापीठ

1/205, प्रोफेसर्स कॉलोनी आगरा- 282002 (उ० प्र०)

इसी दृष्टान्त के जरिए यह भी समझ लेना चाहिए कि अगर दस तोले सोने में एक तोला चाँदी मिलाई जावे, तो इस मेल से सोना आसानी से पहिचानने में आ जाता है। किन्तु बीस तोले चाँदी में एक तोला सोना मिलाया जावे, तो इस मेल में सोने की पहिचान बड़ी मुश्किल से होती है। तथापि उस मेल में भी सोना अपने गुण धर्म को नहीं छोड़कर अपने आपकी अलग सत्ता रखता है। उसी प्रकार जब आत्मा हल्के कर्मोदय से मनुष्ययोनि में जाता है, तो वहाँ आत्मा की पहिचान आसानी से हो जाती है। किन्तु जब घोर कर्मोदय से वह निगोद में पहुँच जाता है, तो वहाँ उसको अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ज्ञान रहता है। वहाँ उसकी ऐसी दशा हो जाती है कि- यह जीव है कि नहीं यह पहिचानना भी कठिन हो जाता है। इतने पर भी आत्मा अपने गुण धर्म को नहीं छोड़कर वहाँ की अपनी अलग सत्ता बनाये रखता है।

जीव के होनेवाले कर्मसंयोग की चर्चा से जैन-शास्त्रों का बहुत सा भाग भरा पड़ा है। जैनधर्म में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व माने हैं। तत्त्वों के ये भेद भी इसी विषय को लेकर हुए हैं। तमाम जैनशास्त्र प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों में बँटे हुए हैं। इन अनुयोगों का भी मुख्य आधार यही विषय है। प्रथमानुयोग में जो कथायें लिखी मिलती हैं, उनका उद्देश्य ही यह बतलाया है कि उनमें से किन-किन ने क्या-क्या अच्छे-बुरे काम किये, जिनसे कर्मबन्ध होकर उनको भवांतर में क्या-क्या अच्छा या बुरा फल मिला। चरणानुयोग में जीवों के लिए वे आचार-विचार बताये गये हैं, जिससे जीव कर्मों से छुटकारा पा सके। करणानुयोग में कर्मों के अनेक भेद-प्रभेद और उनके स्वरूप का विस्तार से वर्णन है। द्रव्यानुयोग में जीवादि द्रव्यों का वर्णन है। इस प्रकार यह कर्मसिद्धान्त का विषय जैनसाहित्य में सर्वत्र गर्भित है। यह नहीं तो जैनधर्म ही नहीं है और, तो क्या मोक्षमार्ग ही इसी विषय पर आधारित है।

प्रश्न: आत्मा के साथ बँधे हुए कर्मों को भी जैनशास्त्रों में कार्मण शरीर माना है और यह भी कहा है कि वह सदा संसारी जीवों के साथ रहता है। तो

फिर अन्य औदारिकादि शरीरों के धारण करने की जीव को क्या आवश्यकता है? एक कार्मण शरीर ही काफी है।

उत्तर: सूत्रकार उमास्वामी आचार्य ने “निरुपभोग-मन्थम्” इस सूत्र के द्वारा बताया है कि कार्मण शरीर उपभोग रहित है और बँधे हुए कर्मों का फल इस जीव को शरीरग्रहण किये बिना नहीं मिल सकता है। क्योंकि इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों की प्राप्ति से संसारी जीवों को सुख-दुःख का अनुभव होता है और इन्द्रियों का आधार शरीर है, इससे यह प्रकट होता है कि शरीर होने पर ही जीव को कर्मों का फल मिल सकता है। माना कि कार्मण भी शरीर है, परन्तु उसके अन्य शरीरों की तरह द्रव्येन्द्रियाँ नहीं हैं। इसलिये यह जीव, उसके द्वारा इन्द्रियाँ विषय को ग्रहण नहीं कर सकता है। ऐसी हालत में आत्मा उस कार्मण शरीर के द्वारा तो कर्मों का फल भोग नहीं सकता है, इसलिये आत्मा को चार गति के योग्य अलग-अलग शरीर ग्रहण करके कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

जैसे सीढ़ियों के बिना मकान के ऊपर की छत का उपभोग नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार कार्मण शरीर के द्रव्येन्द्रियाँ न होने से अकेले उसके द्वारा भी जीव उपभोग नहीं कर सकता।

प्रश्न- अगर ऐसी बात है, तो कार्मण को जीव का शरीर ही क्यों माना जावे?

उत्तर- उपभोग होना यह हेतु शरीर की सिद्धि के लिये नहीं है। अन्यथा तैजस भी शरीर नहीं रहेगा क्योंकि वह भी निरुपभोग है। बल्कि तैजस तो कार्मण की तरह आत्मपरिस्पंदनरूप योग का निमित्त भी नहीं है, तब भी वह शरीर माना गया है। इससे यही फलितार्थ निकलता है कि जो विजातीय द्रव्य आत्मा में मिलकर एकमेक (एकक्षेत्रावगाही) हो जाता है, उसी की गणना यहाँ काय में की गई है। इस अपेक्षा कार्मण को भी जीव का काय कहा जा सकता है।

प्रश्न- जैनशास्त्रों में कर्मवर्गणाओं को पौद्गलिक माना है। उसी से कार्मण शरीर बनता है। इस मूर्त शरीर के साथ आत्मा का बन्ध नहीं हो सकता है।

उत्तर- स्थूल औदारिक शरीर के साथ आत्मा का

सम्बन्ध प्रत्यक्ष दिख रहा है, तो सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ होना क्यों नहीं माना जावे? और आत्मा का ज्ञानगुण अमूर्त है, वह भी मदिरापान से विकृत हो जाता है। तथा ब्राह्मी आदि के सेवन से ज्ञानगुण का विकास होता है। इस तरह अमूर्त ज्ञान पर मूर्त पदार्थों का असर होना भी प्रत्यक्ष है। जब अमूर्त का मूर्त के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष हमारे सामने है, तब परोक्ष सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध भी क्यों नहीं माना जा सकता है? माना कि जीव और कर्म दोनों विजातीय हैं एक अमूर्त और चेतन है, तो दूसरा मूर्त और अचेतन है। इस विजातीय सम्बन्ध से ही तो जीव की अशुद्ध दशा हुई है। ऐसी दशा जीव की कभी किसी की हुई नहीं है, वह अनादिकाल से चली आ रही है। जो दशा अनादि से चली आ रही है, उसमें तर्क नहीं किया जा सकता कि ऐसा विजातीय सम्बन्ध कैसे हुआ? जैसे पाषाण के साथ सुवर्ण का संयोग जिसे कनकोपल कहते हैं, वह भी तो विजातीय ही है। कहाँ सुवर्ण और कहाँ पाषाण? पर क्या किया जावे? खान में से निकलते वक्त अनादि से दोनों का ऐसा ही संयोग है। अगर जैनधर्म ऐसा कहता होता कि- पहले आत्मा कर्मसंयोग से रहित था बाद में, उसके कर्मों का बंध हुआ है, तब तो ऐसा तर्क करना भी वाजिब हो सकता है कि- अमूर्त का मूर्त के साथ बन्ध कैसे हुआ? परन्तु जैनधर्म तो जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि कहता है। वस्तु की जो व्यवस्था बिना किसी के की हुई अनादि से चली आ रही है, उसमें तर्क की कोई गुंजाइश ही नहीं है। जैसे अनादि से चले आ रहे सुवर्ण और पाषाण के मेल में कोई तर्क करे कि यह विजातीय सम्बन्ध क्यों हुआ? कैसे हुआ? ऐसा तर्क निःसार है। उसी तरह जीव और कर्म के सम्बन्ध में तर्क करना निःसार है।

मूर्तिक औदारिकादि शरीरों का सम्बन्ध भी आत्मा के इसी कारण से होता है कि- मूर्त कार्मण शरीर का सम्बन्ध आत्मा के पहिले ही से हो रहा है। अगर कार्मण से सम्बन्धित आत्मा पहले से न होता तो औदारिकादि शरीरों का सम्बन्ध भी आत्मा के नहीं हो सकता था। मतलब कि मूर्त कार्मण शरीर का सूक्ष्म मिश्रण आत्मा के साथ पहले ही से हो रहा था, इसी से मूर्त औदारिकादि शरीरों का स्थूल मिश्रण भी उस मिश्रण में मिल जाता है। अगर पहले से सूक्ष्म मिश्रण न हुआ होता, तो बाद

में स्थूल मिश्रण भी नहीं हो सकता था। यह स्थूल मिश्रण भी सूक्ष्म कार्मण शरीर की सिद्धि में एक हेतु हो सकता है। पूर्व में बिना कार्मण शरीर के सम्बन्ध के अन्य औदारिक शरीरों का सम्बन्ध होना मानने पर मुक्त जीवों के भी पुनः शरीर ग्रहण करने का प्रसंग आवेगा। इत्यादि कथन आचार्य विद्यानंदि ने तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के 'सर्वस्य' सूत्र की व्याख्या करते हुए श्लोकवार्तिक में निम्न शब्दों में प्रकट किया है-

सर्वस्यानादिसंबंधे चोक्ते तैजसकार्मणे।

शरीरान्तरसंबंधस्यान्यथानुपपत्तितः॥

“तैजसकार्मणभ्यामन्यच्छरीरमौदारिकादि, तत्संबंधोऽस्मदादीनां तावत् सुप्रसिद्ध एव स च तैजसकार्मणाभ्यां संबन्धोऽनादिसंबन्धमन्तेरेण नोपपद्यते मुक्तस्यापि तत्संबन्ध-प्रयोगात्।”

अर्थ- सभी जीवों के तैजसकार्मण शरीर अनादिकाल से सम्बन्ध रखनेवाले कहे गये हैं। यदि ऐसा न माना जायेगा, तो अमूर्त जीव के अन्य मूर्त और औदारिकादि शरीरों के सम्बन्ध की संगति ही नहीं बन सकेगी। तैजस और कार्मण शरीर से जुड़े औदारिकादि शरीर हैं। उनका सम्बन्ध हम संसारी जीवों से हो रहा है, यह प्रसिद्ध ही है। वह सम्बन्ध तैजसकार्मण के साथ अनादि संबंध माने बिना नहीं बन सकता है। अन्यथा मुक्त जीव के भी उन शरीरों का सम्बन्ध प्रयोग होने लग जावेगा।

भावार्थ- अमूर्त आत्मा का मूर्त तैजसकार्मण शरीरों के साथ अनादि से सम्बन्ध चला आ रहा है। इसी से तो हमारी आत्मा के साथ औदारिक शरीर का सम्बन्ध प्रत्यक्ष दिख रहा है। अन्यथा अमूर्त का मूर्त के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता था। यह संसारी जीव औदारिकादि स्थूल शरीरों के साथ बहुत काल तक रहता है। अकेले सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ तो बहुत ही कम रहता है। वह भी हर विग्रहगति में अधिक से अधिक तीन समय मात्र ही।

जीव और कर्मों का सम्बन्ध, जो अनादिकाल का कहा जाता है वह प्रवाह की अपेक्षा समझना चाहिये। जैसे मनुष्यलोक में मनुष्य जन्मते और मरते हैं, परन्तु लोक कभी मनुष्यों से शून्य नहीं रहा है। यह प्रवाह सदा से चलता आ रहा है। उसी तरह आत्मा में पुराने कर्म झड़ते और नये कर्म बँधते रहते हैं। आत्मा कभी कर्म शून्य नहीं रहा है। यह प्रवाह अनादि से चला आ

रहा है। जैसे बीजों से वृक्ष पैदा होते हैं और वृक्षों से बीज पैदा होते हैं, यह परम्परा अनादि से चली आ रही है। न पहले बीज हुआ और न पहिले वृक्ष हुआ। बीज को पहले मानें तो वह बिना वृक्ष के कहाँ से आया और वृक्ष को पहले मानें, तो वह भी बीज के बिना कैसे पैदा हुआ? इसलिये दोनों को अनादि मानने से ही वस्तु व्यवस्था बन सकती है। उसी तरह कर्मों के निमित्त से जीव के रागद्वेष भाव पैदा होते हैं और रागद्वेष से पुनः कर्मों का बन्ध होता है, यह सिलसिला भी अनादि से चला आ रहा है। जीव के न पहले रागद्वेषादि भाव हुए और न पहले कर्म हुए। रागद्वेष को पहले माने तो बिना कर्मोदय के कैसे हुए? और कर्मों को पहले माने तो वे भी रागद्वेष के बिना जीव के कैसे बँध गये? इसलिए यहाँ भी दोनों ही को अनादि मानने से वस्तु व्यवस्था बन सकेगी। पंचास्तिकाय ग्रन्थ में कहा है कि-

जो पुण संसारत्थो जीवो, तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो, होदि गदिसु गदी ॥ १२८ ॥
गदिमधिगदस्स देहो देहादो, इन्दियाणी जायंतो।
तेहिं दु विसयग्गहणं, तत्तो रागो य दोसो वा ॥ १२९ ॥
जायदि जीवस्सेयं भावो, संसारचक्कवाल्मि।
इति-जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा ॥ १३० ॥

अर्थ- जो जीव संसार में स्थित है, उसके रागद्वेष-

रूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों से नये कर्म बँधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है। शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं। इन्द्रियों से जीव विषयों को ग्रहण करता है। विषयों के ग्रहण करने से इष्ट विषयों में रागभाव व अनिष्ट विषयों में द्वेषभाव पैदा होता है। इस प्रकार संसार चक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्मबन्ध और कर्मबन्ध से रागद्वेष रूप भाव होते रहते हैं। यह चक्र अभव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि सान्त है।

जीव स्थूल शरीरों को अनन्तवार ग्रहण कर-कर के छोड़ता आया है। परन्तु तब भी यह संसार से नहीं छूट सका है। जब तक इसके सूक्ष्म कार्मण शरीर लगा हुआ है, तब तक यह संसार से नहीं छूट सकता है। जैसे जब तक चावल पर से छिलका दूर नहीं हो जाता, तब तक उसमें अंकुरोत्पत्ति बनी ही रहेगी, उसी प्रकार जब तक कर्मरूप छिलका आत्मा पर बना हुआ है, तब तक संसाररूप अंकुर भी बना ही रहेगा। भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म होता रहता है। पूर्वकर्मों के उदयकाल में होनेवाले रागद्वेष भावों को भावकर्म कहते हैं और रागद्वेष से होनेवाला कर्मबन्ध द्रव्यकर्म कहलाता है।

(शेष अगले अंक में)

‘जैन निबन्धरत्नावली’ (भाग २) से साभार

सिरोंज (म.प्र.) में शिक्षक-ऊर्जा-अर्जन समारोह सम्पन्न

परम पूज्य आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी महाराज के आशीर्वाद से पूज्य मुनि १०८ निर्णयसागर जी महाराज पू. मुनि श्री १०८ प्रणम्यसागर जी महाराज एवं पू. मुनि श्री १०८ चन्द्रसागर जी महाराज के सान्निध्य में सकल दिगम्बर जैनसमाज सिरोंज द्वारा २६-२८ सितम्बर २००९ को श्री अतिशय क्षेत्र नसियाँ जी सिरोंज में त्रिदिवसीय ‘पाठशाला शिक्षक ऊर्जा-अर्जन समारोह’ सफलता पूर्वक सम्पन्न हुआ।

ऊर्जा-अर्जन समारोह में विभिन्न प्रांतों से लगभग ७५ पाठशालाओं के ३५० शिक्षक शिक्षिकाओं ने सम्मिलित होकर ज्ञानार्जन किया एवं बच्चों को जैनधर्म से संस्कारित करने हेतु यथेष्ट निर्देश पूज्य मुनित्रय एवं ब्रह्मचारी भरत भैया से प्राप्त किए।

धर्मोदय परीक्षा बोर्ड खुरई रोड़ सागर (म.प्र.) द्वारा प्रकाशित संस्कारोदय भाग ३ व भाग ४ का सभी को पूज्य मुनि श्री द्वारा स्वाध्याय कराया गया। अंतिम दिन इंदौर से पधारे पं. रतनलाल जी एवं मदनगंज-किशनगढ़ (राज.) से पधारे श्री लुहाड़िया जी ने आयोजक एवं मुनिराजों के अथक प्रयत्नों की सराहना की।

धर्मचन्द्र वाङ्मय, भोपाल

दमोह (म.प्र.) में अणुव्रतधारिणी माता समताश्री का सल्लेखना पूर्वक मरण

आर्थिका रत्न उपशांत मति माता जी के मंगल आशीर्वाद एवं पावन प्रेरणा से १० प्रतिमा अंगीकार कर अणुव्रत-धारिणी बनी माता समताश्री जी ने, जब इस नश्वर देह को त्यागा, तो उनकी अंतिम यात्रा में सम्मिलित होने के लिए अपार जनसमूह उमड़ पड़ा। माता समताश्री जी की अन्तिम यात्रा दिगम्बर जैनधर्मशाला से प्रारम्भ होकर मतिबिहार जयशंकर धाम पहुँची, जहाँ उनकी नश्वर देह को अग्नि में समर्पित कर अंतिम संस्कार किया गया।

सुनील वेजीटेरियन

आचार्य शुभचन्द्र और उनका ज्ञानार्णव

बसन्तकुमार जैन, मेरठ

दिगम्बर मुनि-जगत् में वैसे तो कई शुभचन्द्र हुए हैं, किन्तु हम यहाँ जिन शुभचन्द्र का कथन कर रहे हैं, वे एक महान् दिगम्बराचार्य हुए हैं। उन्होंने अपने त्याग और तप से संसार की असारता को बहुत पीछे धकेल कर आत्मतत्त्व को प्राप्त कर महानिर्वाण प्राप्त किया है।

आचार्य विश्वभूषण कृत भक्तामर की भूमिका में उक्त आचार्य शुभचन्द्र की एक कथा मिलती है। तदनुसार, ग्यारहवीं शताब्दि के आचार्य शुभचन्द्र का जन्म उज्जैन के राजा सिंहल की रानी मृगावती के उदर से हुआ। कहते हैं कि ये युगलिया भाई थे। दूसरे भाई का नाम था भर्तृहरि। इन्हें वैराग्य कैसे हुआ, इसके बारे में जब हम आगे बढ़ते हैं, तो संसार की असारता और राज्यलिप्सा का एक नंगा नाच हमें दृष्टिगत होता है। कथानक इस प्रकार है-

राजा 'सिंह' उस वक्त उज्जैन के शासक थे। इनके कोई सन्तान नहीं थी। निःसन्तान होने का इन्हें बहुत दुख था। एक दिन वनक्रीडा को ये जंगल में गए थे, तो लौटते समय इन्हें एक मुंज (एक प्रकार की घास जिसकी प्रायः रस्सी, बाण, आदि बनाये जाते हैं) के झुण्ड में एक बालक अँगूठा चूसते हुए दिखा। तत्काल उसे उठाया और महल में आकर रानी की गोद में रख दिया। गूढ-गर्भ की घोषणा एवं पुत्र-जन्म की चर्चा सब जगह फैल गई। पुत्र-जन्मोत्सव मनाया गया। इसका नाम रखा गया 'मुंज'।

कुछ समयोपरान्त रानी ने गर्भधारण किया और समय आने पर एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम रखा गया सिंहल। युवावस्था में सिंहल का विवाह मृगावती नाम की राजकुमारी से हुआ। इस मृगावती रानी ने समय पाकर युगल पुत्रों को जन्म दिया, जिनमें ज्येष्ठ शुभचन्द्र तथा छोटे भर्तृहरि हुए।

राजा मुंज एक दिन वनक्रीडा को अपने सामन्तों के साथ गए हुए थे। वहाँ उन्होंने एक तेली को अपने कन्धे पर हल लिये खड़ा देखा। उससे पूछा- 'क्यों भाई, हल लिये यहाँ क्यों खड़े हो?' उत्तर में तेली ने कहा- 'महाराज, मैं आपके नगर का तेली हूँ। हल मेरे बलवान्

होने का चिन्ह है। अगर मैं इसे जमीन में गाड़ दूँ, तो कोई भी इसे उखाड़ नहीं सकता।' राजा ने इशारा किया। तेली ने पूरे जोर से हल जमीन में गाड़ दिया। राजा के सामान्तों ने बहुत जोर लगाया, किन्तु हल नहीं उखाड़ा जा सका। तब राजा ने स्वयं अपने हाथ से उसे उखाड़ कर एक तरफ डाल दिया।

तेली देखता ही रहा गया। राजा ने उसी हल को अपने पूरे जोर से फिर जमीन में गाड़ दिया और आदेश दिया कि अब है कोई इसे उखाड़ने वाला? सभी ने जोर लगाया, किन्तु हल नहीं उखाड़ा जा सका। तब राजकुमार शुभचन्द्र और भर्तृहरि ने निवेदन किया कि हम इसे उखाड़ना चाहते हैं। तो राजा मुंज को हँसी आ गई इनके बालकत्व पर, किन्तु उपहासपूर्वक उन्हें अनुमति दे दी। शुभचन्द्र ने अपने बायें हाथ से ही उसे उखाड़ फेंका। भर्तृहरि ने कहा - "पूज्यवर, एक बार इसे फिर गाड़िये अब की बारी मेरी है।"

राजा मुंज ने प्रकट में तो इनकी सराहना की, किन्तु अन्दर ही अन्दर घबरा गया। वह सोचने लगा कहीं दोनों राजकुमार मेरे राज्य को ही उखाड़कर न फेंक दें?

राजमहल में आकर राजा ने तुरन्त मंत्री को बुलवाया और आदेश दिया कि जैसे भी हो, दोनों राजकुमारों को जंगल में मरवा दिया जाये। मेरे आदेश का पालन शीघ्र हो। मंत्री ने इस अन्याय को न करने के लिए राजा से बार-बार निवेदन किया लेकिन राजा ने न सुनी।

मंत्री दोनों राजकुमारों को जंगल में ले गया और उनसे सारी बात कह दी। यह भी कहा कि अगर आप चाहें, तो ऐसे अन्यायी राजा को पराजित कर राज्य प्राप्त कर सकते हैं।

शुभचन्द्र ने कहा- "मन्त्रीजी, नहीं ऐसा नहीं। हम पापपुञ्ज अपने सिर नहीं लेना चाहते। हमने संसार की असारता और राज्यलिप्सा का तांडवनृत्य देख लिया है।"--

-- और दोनों ही उदास हो, वन की ओर चल दिए।

शुभचन्द्र ने तो दैगम्बरी दीक्षा धारण की और भर्तृहरि ने तन्त्र-मन्त्रवादी से दीक्षा ले ली। शुभचन्द्र वैराग्य की ओर अग्रसर हो गए और भर्तृहरि रागमय तप की ओर।

कुतप की, तन्त्र-मन्त्रवादिता की साधना से भर्तृहरि ने रससिद्धि प्राप्त कर ली और, उस रस को धातु पर छिड़कने से सोना बनाया जाने लगा। यह सिद्धि पाकर भर्तृहरि बहुत प्रसन्न हुआ। उसने अपने भाई की तलाश की। उसे मालूम हुआ कि शुभचन्द्र तो नग्न दिगम्बर साधु हैं। वह बहुत कृशकाय हो गये हैं। तुरन्त उनके पास उस पर्वत पर गया जहाँ आचार्य शुभचन्द्र अडिग तपःसाधना कर रहे थे।

भाई की दीनहीन अकिंचन दशा देख कर वह दुखी हुआ और बोला- “देखो, मैंने तप कर के इतनी बड़ी सिद्धि प्राप्त कर ली है और तुमने यह नंगी दीक्षा लेकर क्या किया? छोड़ो इस दीक्षा को और चलो मेरे साथ।”

आचार्य शुभचन्द्र अपने रागी भाई की ओर देख कर कहने लगे- “अरे भर्तृहरि, अगर सोने से इतना ही मोह, राग था तो राजमहल ही क्यों छोड़ा? तुझे सोना चाहिए न? ले, कितना सोना चाहता है- ” और इतना कह कर अपने ललाट पर चमकती कुछ पसीने की बूँदों को पर्वत पर छिड़क दिया तो सारा ही पर्वत स्वर्ण-मय हो गया। कंकर कंकर सोना सोना हो गया- तब ही से इस पर्वत का नाम स्वर्णगिरि या सोनगिरि पड़ गया। भर्तृहरि की आँखें फटी की फटी रह गईं। वह चरणों में गिर गया। और इस महान् तप की प्रशंसा करने लगा। अपने भाई को राग से विरागता की ओर झुकते देखकर आचार्य शुभचन्द्र ने उसे सम्बोधनार्थ ज्ञानार्णव की रचना की। इसे योगार्णव भी कहते हैं। कहा जाता है कि इसे सुनकर भर्तृहरि ने जिनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली और महान् तप किया।

राजा भोज, कालिदास, मानतुंगाचार्य आदि सब एक समयवर्ती हैं। आचार्य शुभचन्द्र का उल्लेख कालिदास ने भी किया है।

अब हम उस महान् ग्रन्थ को लेते हैं, जिसके पढ़ने से वैराग्य जागृत होता है, मुनीश्वरों का तप, ध्यान और योग-साधना में बल मिलता है। यह ज्ञानार्णव विशेषतया मुनीश्वरों को अपने नियमों के प्रति दृढ़ बनाये रखने में विशेष उपयोगी है।

यह तो सत्य ही है कि आचार्य शुभचन्द्र के समय में अविद्या का घोर प्रचार-प्रसार था। जटाजूटधारी साधु भोले-भाले लोगों को बहका कर साधु बनाने में लगे

हुए थे। कुधर्म का प्रचार था और जैनधर्म पालनेवाले को उस समय बाह्यधर्मावलम्बी कहा जाता था।

ऐसे समय में अपने अडिग तप त्याग से महामुनीश्वर मानतुंगाचार्य ने और आचार्य शुभचन्द्र ने अनेक तपोऋद्धियाँ प्राप्त करके जैनत्व की रक्षा की थी। उन्होंने अपने विशिष्ट वैराग्य से कर्मों की कड़ियाँ काट कर अमरत्व प्राप्त किया था। ऐसे समय में ज्ञानार्णव ग्रन्थ ने रामबाण औषधि का काम किया था और आज भी कर रहा है। उस समय की अविद्या के निवारण के लिए ही अपने प्राथमिक सूत्र में आचार्य ने कहा है-

अविद्या प्रसरोद्भूताग्रहनिग्रहकोविदम्।

ज्ञानार्णवमिमं वक्ष्ये सतामानन्दमन्दिरम्॥

अर्थात् अविद्या के प्रसार से उत्पन्न आग्रह रूप पिशाच के निग्रह करने में सिद्धहस्त तथा सत्पुरुषों के लिए आनन्द का मन्दिर रूप ज्ञानार्णव कह रहा हूँ।

आत्मा की शुद्धि की ओर लक्ष्य करके आचार्यश्री ने ज्ञानार्णव में कहा है- यह आत्मा महामोह से कलंकित और मलिन हो रही है। अतः जिससे इसे शुद्धता मिले वही अपना हित है, वही अपना घर है और वही परमज्योति है। यथा-

अयमात्मा महामोहकलंकी येन शुद्ध्यति।

तदेव स्वहितं धाम तच्च ज्योतिः परं मतम्॥

आचार्यवर ने ज्ञानार्णव में संसार के मोह-मायाजाल, परिवार और परिजन में फँसे मानव-आत्मा को संबोधित करते हुए कहा है-

पातयन्ति भवावर्ते ये त्वां ते नैव बान्धवः।

बन्धुतां ते करिष्यन्ति हितमुद्दिदश्य योगिनः॥

अर्थात्- हे आत्मन्, जो तुझे संसारचक्र में डालते हैं, वे तेरे बान्धव नहीं हैं। किन्तु जो मुनिगण तेरे हित की वांछा करके स्नेह करते हैं, हित का उपेक्ष देते हैं, मोक्ष का मार्ग बताते हैं, वे ही तेरे वास्तव में सच्चे परम मित्र हैं।

भव-भ्रमणनिर्विण्णा भावशुद्धिं समाश्रिताः।

संति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः॥

ज्ञानार्णव में महामुनीश्वर आचार्य शुभचन्द्रजी ने द्वादशभावना, ध्यान की उपयोगिता, महाव्रतों का परिपालन, रत्नत्रय की प्राप्ति, विभावभावों से निर्वृत्ति आदि का विस्तार से वर्णन किया है।

सबसे महत्त्वपूर्ण बात आचार्यश्री ने कही है कि

मन की एकाग्रता, मन की शुद्धि का रखना मुनिगण के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना मोक्ष-प्राप्ति के लिए कर्मों का निवारण। जिस साधु का मन ठिकाने नहीं है उसे लताड़ देते हुए उन्होंने कहा है-

प्रयासैः फल्गुभिर्मूढ किमात्मा दण्ड्यतेऽधिकम्।

शक्यते न हि चेच्चेतः कर्तुं रागादिवर्जितम्॥

अर्थात्- हे मूढ प्राणी, जो अपने चित्त को रागादि से रहित करने में समर्थ नहीं है, तो व्यर्थ ही अन्य क्लेशों से आत्मा को दण्ड क्यों दे रहा है? क्योंकि रागादिक के मिटे बिना अन्य प्रयास करना निष्फल है।

काम-लिप्सा के रोगी को, तो इन्होंने आड़े हाथों लिया है। विकार-भावों में लिप्त मनुष्य का स्त्री-संसर्ग छूटना असम्भव है। और स्त्री-संसर्ग महान् दुखों की जड़ है। ना-मालूम आचार्यश्री ने स्त्री के संसर्ग को क्यों विशेष

हानिकारक कहा है? शायद इसीलिए कि वह कामुक या स्वार्थपरायणी स्त्री अपने रूप, कटाक्ष, और मीठी वाणी में उलझा कर मनुष्य को तप-त्याग और शील से डिगाने में शीघ्र ही सफलता प्राप्त कर लेती है। किन्तु जो व्यक्ति दृढ़ है वह इस संसर्ग से दूर ही रहता है। आचार्यश्री ने बहुत लम्बे कथन में स्त्री-संसर्ग की बुराई और स्त्री-कामुकता को नरक की निशानी कहा है। इस विकारदशा से छुटकारा पाने के लिए स्त्री के तन को महान विष का घट कहा है। उसके एक-एक स्थान को विनाशकारी चक्रव्यूह कहा है। अगर कोई मुनि अपने तप और त्याग से डिगता है, तो उसका कारण उसके दुर्बल मन की चाल तो है ही, किन्तु स्त्री संसर्ग भी एक महाविष है। अन्त में पंच-परमेष्ठी को स्मरण करते हुए आचार्यश्री ने ज्ञानाणव (ग्रन्थ) को समाप्त किया है।

वात्सल्यरत्नाकर (भाग २) से साभार

स्वयम्भूस्तोत्र : हिन्दीपद्यानुवाद

प्राचार्य पं० निहालचंद जैन, बीना

श्री सम्भवनाथ स्तवन

हे सम्भव जिन, भव-भोग-रोग के
निदान के कुशल वैद्य हो।
सुख के सागर, भव्यों के शरणभूत हो।
जैसे असाध्य रोगी को
धन इच्छा, से रहित वैद्य-जन,
रोग हरणकर, शान्ति सुधा देता है ॥ ११ ॥
'मैं' अंहकार ममकारों का अधिस्वामी,
मिथ्या ज्ञान ज्ञेय से दूषित,
जन्म जरा मृत्यु से पीड़ित,
तुमने नश्वर जग का कर्म कलंक मिटाया।
हे निरंजनी सम्भव जिनवर।
मुक्ति का शान्ति सुधा वर दो ॥ १२ ॥
हे सम्भव प्रभु-यह निश्चय बात कही तुमने-
इन्द्रियसुख बिजली सा चंचल,
तृष्णा का फैलाये अंचल,
चौमुखी अग्नि सा बन प्रचण्ड,

यह ताप बना अभिशाप धरा धरणी का।
जीवन सम्मोहित क्लेशों की करणी का ॥ १३ ॥
बन्धहेतु है बद्ध आत्मा
मोक्षहेतु है मुक्त आत्मा
मोक्षमार्ग के हो व्याख्याता
बेदखल किया एकान्त दृष्टि को।
तुम शास्ता हो सर्वांग-निरूपण-कर्ता,
अनेकान्त व स्याद्वाद शैली के ॥ १४ ॥
पुण्य-प्रकर्ष कीर्ति स्तवन में,
विवश इन्द्र स्तुति गायन में।
क्या सागर का सारा जल
छोटी सी अंजुलि में आ पाता?
फिर मैं अज्ञानी-कैसे समर्थ हूँ?
तब गुण स्तुति करने में।
भक्ति का अनुराग भाव है,
शाश्वत सुख का शुभाशीष दो ॥ १५ ॥

दिग्विजय-आलेख पर टिप्पणी

मूलचन्द्र लुहाड़िया

'तीर्थकर वाणी' (मासिक) अहमदाबाद में प्रकाशित लेख 'दिग्विजय' से क्षुभित होकर पत्रिका के सम्पादक श्री डॉ. शेखरचन्द्र जी को लिखे धमकी भरे पत्र में कहा गया कि आपने झूठ को पंख दे प्रचारित करने का जघन्यतम कृत्य किया है। यह भी लिखा कि पत्र को वकील का नोटिस समझा जाय और यदि पत्र को गंभीरता से नहीं लिया गया तो अगला कदम वकील का नोटिस और उसका अगला कदम न्यायालय। न्यायालय का भय दिखाकर जिनवाणी की चर्चा करने से रोकनेवाले स्वयं जिनवाणी के प्राणभूत अनेकांत से कितने दूर हैं? यह विचारणीय है कि एक सद्धर्मप्रभावना के पावन उद्देश्य से आगमाधार से लिखे गए लेख को छापना जघन्यतम कृत्य है अथवा लेख की गुणावगुण के आधार पर समीक्षा के बजाय संपादक के प्रति धमकी भरे कठोर शब्दों का प्रयोग?

यह इस कालिकाल का ही प्रभाव है कि दिगम्बर जैनधर्म की मूल तत्त्वदेशना प्रचारित करने को अपराध बताते हुए वकील का नोटिस दिया जा रहा है। किंतु संपादक को क्यों धमकी दी जा रही है, उन्होंने तो मेरा हस्ताक्षरित लेख प्रकाशित किया है, मुझको दीजिए नोटिस और हाँ मैंने भी तो भगवान् महावीर की शासन परम्परा के महान् प्रभावक आचार्य कुंदकुंद, समंतभद्र आदि के उपदेशों को प्रचारित किया है, अतः वह नोटिस उन महान् आचार्यों को दिया गया समझा जाना चाहिए। वह मिथ्यात्व की दिग्विजय की ओर किया गया ही एक प्रयास है।

उक्त लेख के प्रत्युत्तर में एक साक्षात्कार 'साजिश २० पंथी आचार्यों के खिलाफ १३ पंथी विद्वानों की' छपाकर घर-घर भेजा गया है। हमारे भीतर की गंदगी के कारण हमें पारस्परिक वात्सल्यपूर्ण चर्चा में भी साजिश की गंध आती है। धर्मचर्चा के क्षेत्र में साजिश की कल्पना कैसी? क्या किसी को तत्त्व-निर्णय के पावन प्रयोजन से अपने विचार प्रकट नहीं करना चाहिए और क्या किसी को उसी पवित्र भावना से दूसरे के विचारों को शांतिपूर्वक सुनने की क्षमता नहीं रखनी चाहिए? क्या धार्मिक क्षेत्र में अपने ज्ञान के दंभभाव से ग्रसित हो अपने से विरोधी विचारों को शांति एवं धैर्यपूर्वक सुनने

एवं शालीन चर्चा करने के स्थान पर व्यंग्यपूर्ण निन्दात्मक शब्दों के प्रयोग द्वारा सामनेवाले पर आरोपों के शस्त्र चलाना उचित है?

प्रत्येक वाक्य में स्वयं के ज्ञान का मिथ्या, अहंकार झलकाना ही निरी अज्ञानता है। जैनदर्शन की नयव्यवस्था का ज्ञान कठिन है। अमृतचन्द्र के शब्दों में 'अत्यंत-निश्चितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।' यहाँ वहाँ असम्बद्ध, अप्रासंगिक शब्दों का प्रयोग कर नयज्ञान होने का मिथ्या दंभ प्रदर्शित कर पाठकों को भ्रमित करने के पहले हम स्वयं अपने को ही धोखा दे रहे होते हैं।

पू. स्याद्वादमति माताजी द्वारा किशनगढ़ में सार्वजनिक मंच से घोषणा की बात को सफेद ही नहीं, सफेदतम झूठ बताते हुए थोड़ी भी लज्जा का अनुभव नहीं किया गया। सच-झूठ की परीक्षा के लिए सीधी सी बात यह थी कि माताजी से पूछ लेते कि उन्होंने वैसा कहा था या नहीं? किंतु इस दिशा में सफलता नहीं मिलने से इस बारे में अप्रासंगिक, असम्बद्ध इधर-उधर की बातें कर बार-बार उस घोषणा को निराधार ही झूठ का फतवा देना अपने सफेद झूठ को छिपाने का असफल प्रयास मात्र है। माताजी द्वारा झूठ कहलाने में असफल होने पर अत्यंत कुशलता से प्रसंग को मोड़ देने का प्रयास करते हुए अनोखी बात लिखी कि 'यदि कभी आचार्य विमलसागर जी महाराज ने रागीद्वेषी देवी-देवतादि शब्द का प्रयोग कर उनकी अर्चना, उपासना का निषेध किया भी है, तो वहाँ सर्वत्र विवाद नहीं करते हुए अन्य मत के भैरव-पद्मावती आदि शासनरक्षक देवता ऐसा अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिए।' ऐसे निराधार तर्काभासों का सहारा लेकर येन केन प्रकारेण अपनी मिथ्या बात को पुष्ट करने की यह नई चेष्टा अन्वेषित की गई है। रागीद्वेषी देवी-देवताओं को पूजने का निषेध करने की बात सम्पूर्ण जैनागम में स्थान-स्थान पर सबल शब्दों में उल्लिखित है और कहीं भी किसी भी ग्रंथ में कभी भी उन रागीद्वेषी देवी-देवताओं के जैन और अजैन दो भेद नहीं किए गए हैं। धन्य हैं आपके मस्तिष्क की इस अनोखी उपज को। जैनसाहित्य के प्रथम श्रावकाचार ग्रंथ रत्नकरण्ड-श्रावकाचार में पू. आचार्य समंतभद्र देव ने सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को इतना

महत्त्व दिया कि उसी को सम्यग्दर्शन निरूपित किया। उन्होंने सच्चे देव का लक्षण बताते हुए कहा कि वह सर्वज्ञ, निर्दोष, वीतरागी और हितोपदेशी 'भवितव्यं नियोगेन' अनिवार्य रूप से होता है और कहा 'नान्यथा ह्याप्तता भवेत्' अन्य प्रकार से सच्चा देवपना हो ही नहीं सकता है। उपर्युक्त दोनों वाक्यांशों के द्वारा आचार्य देव शब्दों के अधिकतम बलपूर्वक सच्चे देव का लक्षण प्ररूपित करते हैं। दर्शनपाठ में हम भावना करते हैं 'वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति' वीतराग देव के अतिरिक्त जो रागी-द्वेषी देव उनकी आराधना में कभी भी नहीं करूँ।

सच्चे देव की यह विधिपरक परिभाषा कि जो वीतरागी अठारह दोषों से रहित, सर्वज्ञ, हितोपदेशी होता है, वही सच्चा देव होता है, सभी श्रावकाचारों में एवं अन्य ग्रंथों में मान्य की गई है। निषेधपरक परिभाषा स्वयमेव यह हो जाती है कि जो रागीद्वेषी हैं, वे सच्चे देव नहीं हो सकते, अर्थात् वे कुदेव होते हैं। सच्चे देव के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा गया है, अतः इससे यह स्वयमेव फलित होता है कि रागी-द्वेषी देवों की देवरूप श्रद्धा मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शन की मूल परिभाषा में तो सच्चे देव का लक्षण बताते हुए उसकी श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा ही है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी सम्यग्दर्शन के दोषों में भी मूढ़ताओं, दोषों व अनायतनों में तीन स्थानों पर कुदेव की पूजा का निषेध किया गया है। देवमूढ़ता के वर्णन में आचार्य समंतभद्रदेव ने स्पष्ट लिखा है कि 'वरोपलिप्सयाऽशावान् रागद्वेषमलीमसा। देवतायुदपासीत देवतामूढ उच्यते॥' इस स्पष्ट उल्लेख के बाद यद्यपि विषय में शंका के लिए कोई स्थान नहीं रहता है, तथापि तर्काभासों के सहारे पैतरे बदलने में प्रवीण लेखक ने एक और अति विचित्र सर्वथा मिथ्या बिंदु उठाया है कि इस कारिका में रागद्वेष से मलिन देवताओं की उपासना को नहीं, अपितु उनसे ऐहिक सुखों की अभिलाषा से उपासना करने को देवमूढ़ता कहा है। वे यह कहना चाहते हैं कि ऐहिक सुखों की अभिलाषा के बिना तो रागी-द्वेषी देवताओं की पूजा की जा सकती है। संभवतः लेखक महोदय के पास जब देवमूढ़ता दोष के निराकरण के लिए कोई उपाय नहीं रहा, तो सब पाठकों को मूर्ख समझते हुए लेखक निराधार तर्काभास प्रस्तुत कर किसी तरह मुँह छिपाना चाहते हैं। मूलतः रागी-द्वेषी देवताओं की पूजा का निषेध इसलिए किया

गया है वे कुदेव हैं। इनकी पूजा का उद्देश्य केवल एक ही है- ऐहिक सुख या ऐहिक विपत्तिनिवारण। इसके अतिरिक्त पारमार्थिक उद्देश्य वे रागी-द्वेषी सदोष देव सिद्ध ही नहीं कर सकते। यह कहना सर्वथा हास्यास्पद है कि उन रागी-द्वेषी देवताओं की पूजा बिना किसी उद्देश्य से की जाती है। मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी बिना प्रयोजन किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता है। लेखक महोदय ने और एक मिथ्या तर्क उपस्थिति किया है कि रत्नकरण्ड श्रावकाचार की कारिका ६४ में उल्लेख किया है कि देवताओं ने चाण्डाल की अतिशययुक्त, उत्तम प्रकार से पूजा की। लेखक आगमज्ञ विद्वान् व्यक्ति हैं। आश्चर्य है कि वे उक्त प्रसंग में पूजा शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया गया है, यह नहीं समझ रहे हैं। यहाँ पूजा, प्रशंसा एवं आदर के अर्थ में प्रयुक्त है। अहिंसा अणुव्रत का दृढ़ता से पालन करने एवं संकट आने पर भी व्रत से चलित नहीं होने से देवताओं ने भी चाण्डाल की प्रशंसा की एवं आदर पूर्वक अभिवादन किया। यह व्रतपालन करने रूप धर्म को धारण करने की महिमा है। लेखक महोदय से हमारा निवेदन है कि उक्त कारिका की टीकाओं के सहारे उसका सही अर्थ जानकर अपनी अज्ञानता को दूर करें। संयम से पूज्यता आती है, इस दृष्टि से भी देशव्रतधारी मनुष्य देवताओं के द्वारा पूज्य होता है, किंतु उस मनुष्य के द्वारा वे देवता और वे भी भवनत्रिक के देवता कभी पूज्य नहीं हो सकते। यह भी उल्लेखनीय है कि यहाँ पूजा शब्द प्रशंसा एवं आदर व्यक्त करने के अर्थ में है न कि अष्ट द्रव्य से पूजा करने के अर्थ में। क्या उस चाण्डाल को 'अक्षयपदप्राप्तये अक्षतान् निर्वपामीति' बोलेंगे? अष्ट द्रव्य से पूजा केवल पारमार्थिक नव देवों की ही की जाती है और उन्हीं से अष्ट द्रव्यों के समर्पण करने का तत्तद् संबंधी फल चाहा जा सकता है।

इसी प्रकार सम्यक्त्व के आठ दोषों में मिथ्यादर्शन एवं मिथ्यादृष्टि की स्तुति वंदना करना मूढ़दृष्टि नामक दोष है। रागी-द्वेषी देवों की वंदना-आराधना मिथ्यादर्शन है। आगे अनायतन दोषों में मिथ्यादेव, शासनदेव आदि, मिथ्यागुरु एवं उनके उपासकों की उपासना करना या प्रशंसा करना कहा गया है।

दिगम्बर जैनधर्म के महान् प्रभावक आचार्य कुंदकुंद-देव ने अपने साहित्य में अनेक स्थलों पर वीतरागी देव को ही सच्चा देव बताया है। मोक्खपाहुड में सच्चे देव-

शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन एवं कुदेव-कुगुरु-कुधर्म की वंदना करनेवाले को मिथ्यादृष्टि लिखा है-
हिंसारहिए धम्मे अट्टारहदोषविवज्जिए देवे।

गिगंग्थे पावणये सद्दहणं होई सम्मत्तं॥ १०॥

कुच्छियदेवधम्मं कुच्छियलिंगं च बंदए जो दु।

लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो दु॥ १२॥

यहाँ कहा गया है कि जैन देवी-देवता सम्यग्दृष्टि होते हैं, अतः वे पूज्य माने गए हैं और अजैन देवी-देवता मिथ्यादृष्टि होने से पूज्य नहीं होते। इस बारे में पहली बात तो यह है कि आगम में रागी-द्वेषी देवों को मिथ्यादेव माना है, इसलिए वे पूजा आराधना के पात्र नहीं हैं, चाहे वे सम्यग्दृष्टि हों चाहे मिथ्यादृष्टि।

यदि वे शासनदेवी-देवता सम्यग्दृष्टि हों, तो वे सम्यग्दृष्टि अथवा व्रती श्रावकों से पूजा-उपासना कराना कभी नहीं चाहेंगे। एक सम्यग्दृष्टि दूसरे सम्यग्दृष्टि के प्रति सहज ही सम्यग्दर्शन के अस्तित्व के कारण वात्सल्यभाव रखता है और उसकी यथाशक्ति सहायता करता है। साथ ही वह जैनधर्म की प्रभावना करने की भावना रखता है। ऐसा वह अपना कर्तव्य मानकर उत्साहपूर्वक करता है। इसके लिए वह दूसरों से पूजा प्रार्थना की अपेक्षा नहीं करता है। श्रावकों में भी कोई समर्थ-सम्पन्न होते हैं, वे सम्यग्दर्शन के कारण सहज में वात्सल्य-भावना से प्रेरित हो कर्तव्यभावना से रुचिपूर्वक अन्य श्रावक बंधुओं की सहायता सेवा करते हैं और धर्मप्रभावना करते हैं। इसके लिए उन सेवाभावी समर्थ श्रावकों की प्रशंसा-अनुमोदना तो अवश्य की जाती है, किंतु उनकी पूजा-आराधना कभी नहीं की जाती। इसी प्रकार उन देवी-देवताओं की उपासना का किया जाना न उचित ही है, न तर्कसम्मत। यदि देवों की उपासना ही की जानी है, तो इन भवनत्रिक के स्थान पर उत्कृष्ट सौधर्म इन्द्र, लौकांतिक देव, सर्वार्थसिद्धि के देव जो सम्यग्दृष्टि होने के साथ-साथ आगमज्ञाता और एक भवावतारी होते हैं, फिर उनकी पूजा आराधना का विधान क्यों नहीं किया गया है।

यदि वे शासन देवी-देवता कदाचित् मिथ्यादृष्टि हों, तो उनकी पूजा आराधना करने का बिल्कुल भी प्रश्न उपस्थित नहीं होता। इस प्रकार उन देवी-देवताओं के सम्यग्दृष्टि होने अथवा मिथ्यादृष्टि होने, दोनों ही अवस्थाओं में उनकी पूजा आराधना करने का कोई औचित्य सिद्ध नहीं होता है। दोनों ही अवस्थाओं में वे देवी-

देवता रागी-द्वेषी तो होते ही हैं। द्रव्यसंग्रह के टीकाकार ने राग-द्वेषयुक्त आर्त्तरौद्र परिणामों के धारक क्षेत्रपाल चंडिका आदि मिथ्या देवों की आराधना करना देवमूढ़ता बताया है। यहाँ 'मिथ्यादेव' देव के एक भेद के रूप में ग्रहण किया है। सच्चेदेव और मिथ्यादेव ये दो भेद देव के हैं। सर्वज्ञ एवं वीतरागी सच्चे देव हैं और रागी-द्वेषी मिथ्या देव हैं। सम्यग्दृष्टि देव भी रागीद्वेषी होते हैं। अतः रागी-द्वेषी, आर्त्तरौद्र ध्यानवाले उन जैनशासन देवतओं की भी पूजा आराधना करने का सर्वथा निषेध किया है, क्योंकि वे मिथ्या देव हैं।

जैन सिद्धांत एवं तत्त्वबोध के अभाव में अपने मिथ्याज्ञान के अंहकार से ग्रसित व्यक्ति ही दूसरों के ज्ञान पर प्रश्न चिन्ह लगाने का दुस्साहस करता है। अज्ञानी को ज्ञानी की बात नहीं सुहाती और दुराचारी को सदाचारी व्यक्ति बुरा लगता है।

आदरणीय पं० कैलाशचन्द्र जी के द्वारा यह लिखा गया है कि यक्ष-संस्कृति तमिल देश में दूसरी शताब्दी में संभव है, इसमें आश्चर्य क्या है? यक्षी संस्कृति के दूसरी शताब्दी में होने से क्या यक्षी-पूजा विधेय हो गई? यह तथ्य है कि मिथ्यादर्शन भी उतना ही प्राचीन है जितना सम्यग्दर्शन है। श्वेताम्बरसम्प्रदाय यक्षी संस्कृति से भी अधिक प्राचीन हैं। यदि जैन मिथ्यादृष्टियों की संख्या सम्यग्दृष्टियों से संख्यातगुणी है, तो क्या केवल इसलिए मिथ्यादर्शन व मिथ्यामान्यताओं को समीचीन मान लिया जाना चाहिए?

यद्यपि किन्हीं आचार्य या विद्वान्-विशेष की मान्यता को समीचीनता की कसौटी नहीं माना जा सकता, तथापि आपका यह शाब्दिक क्लिष्ट व्यायाम व्यर्थ है। पू. आर्यिका स्याद्वादमति जी का किशनगढ़ में कहा गया एक वाक्य मात्र आपके सारे शाब्दिक महल को धराशायी करने के लिए पर्याप्त है।

इतने सारे शब्दजाल से क्या आप यह सिद्ध कर पाये हैं कि जयोदय महाकाव्य पं० भूरामल जी ने नहीं लिखा था, बल्कि पू. आ. ज्ञानसागर जी ने लिखा था। पं० भूरामल जी में एवं आचार्य ज्ञानसागर जी में वास्तव में ही गुणात्मक अंतर था। श्रावक अवस्था में उनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र जघन्य अवस्था में थे, जो मुनि / आचार्य होने पर मध्यम या उत्कृष्ट अवस्था को प्राप्त हो गए थे। इतनी छोटी सी बात नहीं समझकर भी अपने ज्ञान का दंभ करना आश्चर्यजनक है।

हैसी आती है इस तर्क को सुनकर कि जैनशासन देवी-देवता अलग होते हैं और अजैन अलग। जैन पद्मावती अलग होती हैं और अजैन अलग। वस्तुतः देवी-देवता तो वे ही हैं, जब जैनियों ने अपनाया तो उन्हें जैन बना दिया और अजैनों ने उन्हें अजैन बना दिया। जैनआगम में सर्वत्र कुदेव की परिभाषा एक ही कही है- जो राग-द्वेष सहित देव हैं वे कुदेव हैं। 'राग-द्वेष-मलीमसा देवता यदुपासीत देवतामूढ उच्यते'। सभी श्रावकाचार ग्रंथों में वीतरागी देव का सुदेव और रागी-द्वेषी देव को कुदेव लिखा है। यह सूर्य की तरह स्पष्ट है।

'रागसहित जग में रुल्यो मिले सरागी देव। वीतराग भेंद्यों अर्वें मेटे राग कुदेव।'

लेखक ने अपने लेख में अनेक स्थानों पर 'माँ पद्मा' शब्द का प्रयोग किया है। यह भवनत्रिक की देवी मनुष्यों की माँ कैसे बन गई? वैसे हम लोग आर्यिका माताजी को 'माताजी' शब्द से सम्बोधित करते हैं, क्योंकि वे उत्कृष्ट देशव्रतों का पालन करती हैं। पद्मावती देवी को, जो तत्त्वतः हमसे उच्च पद पर प्रतिष्ठित नहीं हैं, हम कैसे उनको 'माँ' शब्द से सम्बोधित करेंगे?

मूल बात से ध्यान हटाने के लिए इधर-उधर के विषय उपस्थित कर उलझाने का प्रयास एक दुनीर्ति है। मूल बात यह है कि सर्वज्ञ एवं वीतरागी ही सच्चे देव हैं, दूसरे कोई नहीं। रागी-द्वेषी मिथ्या देव हैं, जो परमार्थभूत नहीं हैं। रागी-द्वेषी देव नहीं, कुदेव होते हैं। 'ते हैं कुदेव तिनकी जो सेव शठकरत न तिन भव भ्रमण छेव।' इस दिगम्बर जैनधर्म के प्राणभूत सिद्धांत का अपलाप करने के लिए किए जा रहे प्रयास कदाचित् किंचित् सफल हो सकते हैं, किंतु सिद्धांत तो अमर रहता है। दिगम्बर जैनों में से ही निकलकर कुछ साधु और विद्वानों ने श्वेताम्बर धर्म की स्थापना की और वह तर्क और साहित्यिक प्रमाणों से समृद्ध होकर फल फूल रहा है। नए मन्त्रों की स्थापना साधुओं और विद्वानों के द्वारा ही होती है। यह संभव है कि शासन देवी-देवताओं की पूजा-आराधना और नवग्रहपूजा और नवरात्रा जैसे पर्वों के प्रचलन को श्वेताम्बरों से भी आगे बढ़कर इस पावन दिगम्बर जैनधर्म को वैष्णवपंथ का रूप प्रदान कर देवें। श्वेताम्बरों के पश्चात् वीतराग दिगम्बर जैनधर्म में भट्टारक-पंथ, तारणपंथ आदि पंथों की उत्पत्ति हुई

और भी अनेक आगमविरुद्ध मान्याओं को प्रश्रय मिला। साथ ही दिगम्बर मुनियों की चर्चा भी दूषित होती गई। इसी खेदजनक स्थिति को देखकर ही आचार्यों ने खेद प्रकट करते हुए लिखा है 'पंडितै भ्रष्टचारित्रैर्बर्तैश्चतपोधनेः। शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतं।'

पं०पू० आचार्य शांतिसागर जी ने एक विद्वान द्वारा पद्मावती को सिद्ध करने की बात पर सरल शब्दों में उसका निषेध किया। उन्होंने यह तर्क दिया कि पद्मावती को सिद्ध करने के लिए उसे नमस्कार करना पड़ता है, फिर मुनि या श्रावक अव्रती देवी को नमस्कार कैसे कर सकते हैं? श्रावक भी देशव्रती होने से अव्रती पद्मावती को नमस्कार कैसे कर सकता है? बल्कि पद्मावती देवी अथवा शासन देवताओं को ही श्रावक को नमस्कार या विनय करना चाहिए।

पक्षाग्रह के कारण हम अपने आगमज्ञान का दुरुपयोग-मिथ्यात्व के समर्थन में करके दर्शन मोहनीय कर्म के बंध को आमंत्रित कर रहे होते हैं। आगम में पूजा आराधना के पात्र नव देवता बताए हैं। शासन-देवता आदि नव देवताओं में नहीं होने से पूजा के पात्र नहीं हैं। सम्यग्दृष्टि शासन-देवता जिनेन्द्रभक्त होने के कारण जिनेन्द्र के भक्तों की तो वात्सल्यभाववश सहायता करते हैं, किंतु स्वयं की पूजा करनेवालों को तो मिथ्यादृष्टि समझकर उनकी उपेक्षा ही करेंगे। दिल्ली के लाल मंदिर में मिथ्यात्व का ऐसा प्रभाव देखने में आता है कि बहुत से दर्शनार्थी जिनेन्द्र भगवान की वेदी पर बहुत थोड़ा समय खर्च करते हैं और बहुत अधिक समय पद्मावती देवी की वेदी पर स्तुति करने में बिताते हैं। पद्मावती देवी की एक स्तुति में भक्त लोग गाते हैं 'माता तू दया करके कर्मों से छुड़ा देना, इतनी सी विनय तुमसे भव पार लगा देना।' विचार किया जाना चाहिए कि किस प्रकार पद्मावतीदेवी, जो हम सबसे कदाचित् अधिक ही कर्मों से जकड़ी हुई हैं, फिर भी हमें कैसे भव-पार लगा देंगी, कैसे कर्मों से छुड़ा देंगी?

सभी प्रकाशित श्रावकाचार के ग्रंथों में वीतरागी देव एवं वीतरागी गुरु की ही आराधना करने की एक ही बात कही गई है। यह सिद्धांत दिगम्बरजैनधर्म का प्राण है।

मदनगंज-किशनगढ
अजमेर (राज०)

सामयिक / सामायिक : स्वरूप और विधि

डॉ० पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य

‘सामयिक’ शब्द ‘समय’ शब्द से निष्पन्न होता है और ‘सामायिक’ ‘समाय’ से सिद्ध होता है। ‘समय’ का अर्थ आत्मा होता है, उसमें होनेवाले को सामयिक कहते हैं और ‘समाय’ शब्द का अर्थ समता/मध्यस्थता की-प्राप्ति होती है, इसमें होनेवाले को सामायिक कहते हैं।

सामायिक के लिए ‘सामयिक’ और ‘सामायिक’ ये दो शब्द प्रचलित हैं। समन्तभद्राचार्य ने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में ‘सामयिक’ शब्द का प्रयोग किया है और अन्य ग्रन्थकारों ने ‘सामायिक’ शब्द का। दोनों शब्दों की निरुक्तियाँ भिन्न प्रकार हैं। ‘सामयिक’ शब्द ‘समय’ शब्द से निष्पन्न होता है और ‘सामायिक’ शब्द ‘समाय’ शब्द से सिद्ध होता है। ‘समय’ का अर्थ आत्मा होता है, उसमें होनेवाले को ‘सामयिक’ कहते हैं और समाय शब्द का अर्थ समता/मध्यस्थता की प्राप्ति होता है। उसमें होनेवाले को ‘सामायिक’ कहते हैं। ‘समय’ और ‘समाय’ दोनों शब्दों से तद्धित का ठक् (इक्)प्रत्यय होकर तथा आदि-अन्त की वृद्धि होने पर सामयिक और सामायिक शब्द सिद्ध होते हैं।

यह सामायिक मुनियों के आवश्यक कार्यों में ‘समता’ शब्द से उल्लिखित है। प्रत्येक मुनि को इष्ट-अनिष्ट का प्रसंग आने पर समताभाव रखना आवश्यक है। गृहस्थ श्रावक के लिये शिक्षा-व्रत के रूप में ‘सामायिक’ करना आवश्यक बताया गया है। दिन में दो बार, या सामायिक प्रतिमाधारी की अपेक्षा तीन बार, २ घड़ी, ३ घड़ी अथवा ६ घड़ी तक सामायिक करने का विधान है। एक घड़ी २४ मिनट की होती है। गृहस्थ-श्रावक निरन्तर समताभाव में स्थिर नहीं रह सकता, इसलिए उसे प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल में निश्चित समय तक अवश्य ही सामायिक करना चाहिये। इस ‘सामायिक’ से उसे मुनियों के समताभाव नामक ‘आवश्यक’ का अभ्यास होता है।

सामायिक के समय अपना उपयोग अन्य विषयों से हटाकर ‘समय’ अर्थात् आत्मा में लगाना चाहिये। मेरा ज्ञाता-द्रष्टा जानने और देखने का स्वभाव है, राग-द्वेष करना नहीं। मैं अपने ज्ञाता-द्रष्टा स्वभाव से च्युत

होकर पर-पदार्थों में इष्ट-अनिष्ट बुद्धि कर स्वयं दुःखी हो रहा हूँ। पर पदार्थ, न इष्ट होता है और न अनिष्ट। यह प्राणी अपनी आवश्यकता के अनुसार एक ही पदार्थ को कभी इष्ट मानता है और आवश्यकता पूर्ण हो जाने पर कभी अनिष्ट मानने लगता है। गर्म वस्त्र शीतकाल में इष्ट होते हैं और उसके निकल जाने पर अनिष्ट लगने लगते हैं।

सामायिक में बैठा हुआ गृहस्थमानव, जितना परिग्रह उसके शरीर पर होता है, उतने को ही अपना मानता है, सामायिक के काल में अन्य परिग्रह को वह अपना नहीं मानता। यही कारण है कि समन्तभद्र स्वामी ने उसे ‘चेलोपसृष्ट’ (जिसे किसी ने उनकी इच्छा के विरुद्ध वस्त्र उड़ा दिया है) मुनि की उपमा दी है। यह उतने समय तक पंच पापों का त्यागी होने से उपचार से महाव्रती के समान माना जाता है।

सामायिक करने से पहले निर्द्वन्द्व स्थान का चयन कर लेना चाहिये। पश्चात् उपद्रव आने पर उसे उपसर्ग समझ कर सहन कर लेना चाहिए। सामायिक का प्रारम्भ पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुख कर करना चाहिए। यदि प्रतिमाजी के सम्मुख बैठने का अवसर प्राप्त होता है, तो पूर्व या उत्तर दिशा का विकल्प नहीं रहता। सर्वप्रथम खड़े होकर नौ बार णमोकार मंत्र पढ़कर तीन आवर्त करने के पश्चात् भूमि का स्पर्श करते हुये घुटने टेक कर नमस्कार करना चाहिए। पश्चात् दाहिनी ओर घूमते हुए चारों दिशाओं में णमोकार मन्त्र पढ़कर तीन-तीन आवर्त और एक शिरोनति करना चाहिये। इस प्रकार चारों दिशाओं के बारह आवर्त और एक अन्तिम कायोत्सर्ग की शिरोनतियाँ हो जाती हैं। कृतिकर्म कर चुकने के बाद शरीर की शक्ति के अनुसार पद्मासन, अर्ध-पद्मासन, पर्यकासन, अथवा कायोत्सर्ग की मुद्रा में सामायिक करना चाहिये।

सामायिक के ६ अंग हैं - १. प्रतिक्रमण, २. प्रत्याखान, ३. सामायिक, ४. स्तुति, ५. वन्दना और ६. कायोत्सर्ग। इनका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है-

प्रतिक्रमण- अपनी दिनचर्या में जो पापरूप प्रवृत्ति हुई है, उसके प्रति पश्चात्ताप प्रकट करते हुए क्षमायाचना करना।

प्रत्याख्यान- पिछली त्रुटियों पर पश्चात्ताप करते हुए आगे के लिए उन त्रुटियों से दूर रहने का निश्चय।

सामायिक- शत्रु, मित्र सभी जीवों पर समताभाव रखना। इष्ट-अनिष्ट का प्रसंग आने पर यह विचार करना संसार में सुख-दुख आदि जो भी प्राप्त होता है, वह स्वयं के द्वारा अर्जित कर्मों का फल है। अन्य लोग तो मात्र बाह्य निमित्त हैं, मूल निमित्त मेरा कर्मोदय ही है, अतः सब परिस्थितियों में समताभाव रखना आवश्यक है। यही सामायिक कर्म कहलाता है।

स्तुति- वृषभादि तीर्थकरों की अलग-अलग अथवा समुदायरूप से स्तुति करना स्तुति कर्म कहलाता है। ये वृषभादि तीर्थकर ही धर्म-मार्ग के प्रवर्तक हैं, उनके प्रति भक्ति का भाव प्रकट करना आवश्यक है।

वन्दना- चौबीस तीर्थकरों में से किसी एक तीर्थकर की स्तुति करना वन्दना कर्म है।

कायोत्सर्ग- निश्चित समय तक शरीर से ममत्व छोड़कर शरीर की अशुचिता और अनित्यता का विचार करते हुए णमोकार मन्त्र अथवा किसी अन्य मन्त्र का जाप करना कायोत्सर्ग कहलाता है।

जाप करने के बाद आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय तथा संस्थानविचय, इन चार प्रकार के धर्म्यध्यानों का विचार करना चाहिये। गृहस्थ के प्रारम्भ के तीन ध्यान होते हैं, संस्थानविचय नहीं होता, परन्तु मुनिराजों के चारों धर्म्यध्यान होते हैं। सूक्ष्म, कालान्तरित तथा दूरवर्ती पदार्थों का चिन्तन आज्ञाविचय धर्म्यध्यान के माध्यम से होता है। चर्तुगति के दुःखों, तथा उनसे बचने के उपायों का चिन्तन, अपायविचय धर्म्यध्यान में होता है। किस कर्म के उदय में जीव का कैसा भाव होता है, किस कर्म का बन्ध, उदय तथा सत्त्व किस गुणस्थान तक रहता है, ऐसा चिन्तन करना विपाकविचय धर्म्यध्यान है। और लोक, सुमेरुपर्वत, नन्दीश्वरद्वीप तथा अकृत्रिम चैत्यालयों आदि के संस्थान, आकृति आदि का विचार करना संस्थानविचय धर्म्यध्यान है।

सामायिक के काल में शीत, उष्ण, वर्षा तथा डाँस, मच्छर आदि की बाधा होती है, तो उसे समताभाव से सहन करना चाहिये। परिणामों की स्थिरता के लिए सामायिक पाठ, तथा बारह भावना आदि का पाठ भी करना चाहिये।

सामायिक पूर्ण होने पर जिस दिशा में मुख है उसी दिशा में नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़कर तथा भूमि स्पर्श-पूर्वक नमस्कार करना चाहिये। शारीरिक अस्वस्थता या वृद्धावस्थाजन्य अशक्ति के होने पर प्रारम्भिक और अन्तिम कार्योत्सर्ग की क्रियायें अपवादरूप से बैठे-बैठे भी की जा सकती हैं। सामायिक के समय मन, वचन, काय की चंचलता को रोकना चाहिये तथा बड़े उत्साह से सब विधि का पालन करते हुए आदरपूर्वक करना चाहिये।

बारह आवर्त, चार शिरोनति और दो निषद्याओं के विषय में ऐसा भी उल्लेख मिलता है: 'जिस प्रकार मुनियों के सामायिक और स्तव नामक कृतिकर्म साथ-साथ होते हैं, उसी प्रकार श्रावक के भी दोनों कर्म साथ-साथ होते हैं। सामायिक कृति कर्म में सामायिक दण्डक और स्तवकृति कर्म में थोस्सामि दण्डक पढ़ा जाता है। बारह आवर्तों और चार प्रणामों की संख्या का विवरण देते हुए अन्यत्र यह भी लिखा है कि सामायिक दण्डक के प्रारम्भ और अन्त में तीन-तीन आवर्त करना हुआ एक प्रणाम करता है। इस प्रकार सामायिक दण्डक के ६ आवर्त और २ प्रणाम होते हैं। यही विधि स्तवदण्डक के प्रारम्भ और अन्त में करता है, इसलिए इसमें भी ६ आवर्त और २ प्रणाम होते हैं। दोनों को मिलाकर १२ आवर्त और ४ प्रणाम होते हैं। सामायिक कृतिकर्म के प्रारम्भ में बैठकर नमस्कार किया जाता है, इसलिए दोनों कृतिकर्मों की दो निषद्याएँ (कटिभाग को सम रख कर पद्मासन आदि आसनों से बैठना) होती हैं।

साहित्याचार्य डॉ० पन्नालाल जैन
अभिनन्दन ग्रन्थ (५/२२-५/२३)
से साभार

साहिब तुम जनि बीसरो, लाख लोग मिलि जांहि।
हमसे तुमको बहुत हैं, तुम सम हमको नांहि॥
तुम्हें बिसारै क्या बनै, किसके सरनै जाय।
सिव विरंचि मुनि नारदा, हिरदे नांहि समाय॥

- कबीर

जिज्ञासा-समाधान .

पं० रतनलाल बेनाड़ा

प्रश्नकर्ता- सौ० कमलश्री, अजमेर।

जिज्ञासा- क्या विग्रहगति में पुद्गलशरीर न होने से पुद्गल विपाकी कर्मों का उदय भी नहीं होता?

समाधान- इसके समाधान में सर्वार्थसिद्धि पृष्ठ ३०७ पर दिए गए विशेषार्थ में इसप्रकार कहा गया है-

‘जब तक जीव को औदारिक आदि नोकर्मवर्गणा का निमित्त नहीं मिलता है, तब तक पुद्गल विपाकी कर्म अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होते हैं। इनका विपाक पुद्गलों का निमित्त पाकर होता है, इसलिए इन्हें पुद्गल विपाकी कहते हैं। जैसे कोई एक जीव दो मोड़ा लेकर यदि जन्म लेता है, तो उसके प्रथम और द्वितीय मोड़े के समय शरीर आदि पुद्गल विपाकी प्रकृतियों का उदय नहीं होता है। तीसरे समय में, जब वह नवीन शरीर को ग्रहण करता है, तभी उसके इन प्रकृतियों का उदय होता है।

जिज्ञासा- यदि कोई द्रव्य से निर्ग्रन्थ हो तथा भावों में कुछ गिरावट आ जाये, तो क्या वह नीच गतियों में जा सकता है?

समाधान- शास्त्रों में ऐसे बहुत से प्रमाण मिलते हैं, जिनके अनुसार भावलिंग रहित साधुओं की नीच गति भी कदाचित् संभव है। कुछ प्रमाण इस प्रकार है-

१. श्री भावपाहुड गाथा ७४ में इसप्रकार कहा है-

भावो वि दिव्वसिवसुखभायणो भाववज्जिओ सवणो ।
कम्ममलमलिणचित्तो तिरियालयभायणो पावो ॥ ७४ ॥

अर्थ- भाव तथा द्रव्य दोनों लिङ्गों का धारक मुनि स्वर्ग और और मोक्ष सम्बन्धी सुखों का भाजन होता है तथा भावलिंग से रहित पापी मुनि कर्मरूपी मल से मलिन चित्त होता हुआ तिर्यच गति का पात्र होता है

२. श्री सूत्रपाहुड ग्रंथ में इसप्रकार कहा है-

जहजायरुवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गिहदि हत्थेसु ।
जइ लेइ अप्पबदुयं तत्तो पुण जाइ णिगगोदं ॥ १८ ॥

अर्थ- नग्न-मुद्रा के धारक मुनि तिलतुष मात्र भी परिग्रह अपने हाथों में ग्रहण नहीं करते। यदि थोड़ा बहुत ग्रहण करते हैं, तो निगोद जाते हैं।

३. श्री भावपाहुड ग्रंथ में इसप्रकार कहा है-

पावंति भावसवणा कल्लाणपरंपराइ सोक्खाइं ।
दुक्खाइं दव्वसवणा णरतिरिकुदेवजोणीए ॥ १८ ॥

अर्थ- भाव मुनि कल्याणों की परम्परा से युक्त सुखों

को प्राप्त होते हैं अर्थात् तीर्थकर होकर गर्भ जन्मादि कल्याणकों से युक्त परम सुख को प्राप्त होते हैं और द्रव्य मुनि मनुष्य, तिर्यच तथा कुदेव योनि में दुःखों को प्राप्त होते हैं।

४. श्री सागारधर्मावृत के आठवें अध्याय की गाथा ५३ में इसप्रकार कहा है-

क्वापि चेत्युद्गले सक्तो म्रियेथास्तद् धुवं चरेः ।

तं कृमीभूय सुस्वादुचिर्भटासक्तभिक्षुवत् ॥ ५३ ॥

अर्थ- हे क्षपकराज! यदि तू किसी भी भोजनोपयोगी पदार्थ में आसक्ति रखकर मरेगा, तो निश्चय से स्वादिष्ट खरबूजे में आसक्ति रखकर मरनेवाले संन्यासोन्मुख भिक्षुक के समान, उसी पदार्थ में कीट होकर उत्पन्न होगा।

भावार्थ- हेमसेन नामक मुनिराज का आयु का अन्तिम समय चल रहा था। उस दिन उस चैत्यालय में भगवान् की प्रतिमा के सामने एक पका हुआ खरबूजे का फल चढ़ाया हुआ रखा था। खरबूजा इतना पका हुआ था कि उसकी सुगन्ध मुनिराज के पास तक पहुँची और उनका मन उस फल की ओर ललचा गया। इस फलप्राप्ति की आर्त चिन्ता में ही विचारे मर गए और मरकर तत्क्षण उस फल के अन्दर कीड़े की पर्याय में उत्पन्न हो गए।

प्रश्नकर्ता- पं. जिनेन्द्र शास्त्री, ललितपुर।

जिज्ञासा- क्या अन्तरात्मा की तरह बहिरात्मा के भेद होते हैं या नहीं?

समाधान- कार्तिकेयानुप्रेक्षा में बहिरात्मा का स्वरूप इसप्रकार लिखा है-

मिच्छत्त परिणदप्पा तिव्व- कसाएण सुट्टु आविट्ठो ।

जीवं देहं एक्कं मण्णंतो होदि बहिरप्पा ॥ १९३ ॥

अर्थ- जो जीव मिथ्यात्व कर्म के उदयरूप परिणत हो, तीव्र कषाय से अच्छी तरह अविष्ट हो और जीव तथा देह को एक मानता हो, वह बहिरात्मा है।

इसकी टीका में आ० शुभचन्द्र महाराज ने इसप्रकार कहा है- ‘उत्कृष्टा बहिरात्मनो गुणस्थानादिमे स्थिताः, द्वितीये मध्यमाः, मिश्रे गुणस्थाने जघन्यका इति।’ अर्थ- प्रथम गुणस्थानवर्ती बहिरात्मा जीव उत्कृष्ट बहिरात्मा है, दूसरे सासादन गुणस्थानवर्ती जीव मध्यम बहिरात्मा और तीसरे मिश्रगुणस्थानवर्ती जीव जघन्य बहिरात्मा है। इस प्रकार बहिरात्मा के ३ भेद कहे गये हैं।

जिज्ञासा- विधवा स्त्री का रहन-सहन आदि किस प्रकार होना चाहिए, क्या इसका शास्त्रों में कोई वर्णन मिलता है? यदि मिलता हो तो बताएँ?

समाधान- श्री शुभचन्द्राचार्य विरचित पाण्डव पुराणम् (भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद् प्रकाशन) के पर्व १३, पृष्ठ-२८३ पर इसप्रकार कहा है-

‘विधवा स्त्री सभा में कदापि नहीं शोभती है। विधवा स्त्री का आँखों में अंजन लगाना अर्थात् काजल लगाना, सुरमा से आँखे आँजना आदि शृंगारिक कार्य होने से त्याज्य हैं, लज्जाजनक हैं। ताम्बूल भाण करना भी उसे वर्ज्य ही है, अलंकार के समान अन्य रंगयुक्त वस्त्रधारण करना भी शोभाजनक नहीं हैं, अर्थात् विधवा स्त्री का अलंकार धारण करना और सुंदर तरह-तरह के चित्र विचित्र वस्त्र धारण करना भी लज्जाजनक है। उसे सफेद वस्त्र धारण कर, भूषण रहित अवस्था में रहना ही शुभ माना गया है। पति मरने पर अथवा गृह त्यागकर निकल जाने से स्त्रियाँ संयम धारण करें। तपश्चरण से वह अपना देह क्षीण करें। श्रावक के षट्कर्मों में अपना समय लगावें स्पर्श आदि विषयों के प्रति गमन करनेवाली इंद्रियाँ शीघ्र क्षीण करें। भोजन, वस्त्र धारण करना, शृंगारिक बातें करने का चातुर्य जीवों धन और शरीर के ऊपर स्नेह ये बातें बिना पति के स्त्रियों के लिए शोभापद नहीं हैं।

प्रश्नकर्ता- पं. अभयकुमार शास्त्री।

जिज्ञासा- क्या सर्वाविधि अवधिज्ञान परमाणु को जानता है या नहीं?

समाधान- सर्वाविधिज्ञान परमाणु को जानता है या नहीं, इस संबंध में आचार्यों के दो मत प्राप्त होते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों के अनुसार, सर्वाविधि अवधिज्ञान परमाणु को नहीं जानता है, जबकि धवला और गोम्मटसार, जीवकाण्ड के अनुसार सर्वाविधि अवधिज्ञान परमाणु को जानता है। इस संबंध में निम्न आगम प्रमाण जानने योग्य हैं-

१. सर्वार्थसिद्धि १/२४ की टीका में इस प्रकार कहा है-

‘कार्मण द्रव्य का अनन्तवाँ अन्तिम भाग सर्वाविधिज्ञान का विषय है। उसके भी अनन्त भाग करने पर जो अंतिम भाग प्राप्त होता है, वह ऋजुमति मनः पर्ययज्ञान का विषय है। ऋजुमति के विषय के अनन्त भाग करने पर जो अन्तिम भाग प्राप्त होता है, वह विपुलमति का विषय है। अनन्त

के अनन्त भेद हैं अतः ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय बन जाते हैं।’

भावार्थ- सर्वाविधिज्ञान तथा दोनों मनःपर्ययज्ञान उत्तरोत्तर सूक्ष्म स्कन्ध को विषय करते हैं परमाणु को नहीं। राजवार्तिक १/२४/२ में तथा श्रुतसागरीय तत्त्वार्थवृत्ति में भी इसीप्रकार कहा है। श्लोकवार्तिक खण्ड ४, पृष्ठ ६६-६८ पर भी कथन प्राप्त होता है। इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों की परम्परा परमाणु को सर्वाविधि अवधिज्ञान तथा किसी भी मनः पर्यय ज्ञान द्वारा जानने योग्य नहीं मानती है।

श्री धवला पु. ९/४८ में सर्वाविधि का विषय परमाणु कहा गया है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में तो एक गाथा ही इस संबंध में इसप्रकार कही गई है-

सव्वावहिस्स एक्को परमाणु होदि णिव्वियप्पो सो।
गंगामहाणइस्स पवाहोव्व धुवो हवे हारो ॥ ४१५ ॥

अर्थ- सर्वाविधि का विषय एक परमाणु मात्र है, वह निर्विकल्प रूप है। भागहार गंगा महानदी के प्रवाह के समान ध्रुव है।

भावार्थ- यहाँ सर्वाविधि का विषय परमाणु कहा गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि तत्त्वार्थसूत्र के ‘तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य’ १/२८ के अनुसार जो रूपी द्रव्य सर्वाविधिज्ञान का विषय है, उसके अनन्त भाग करने पर उसके एक भाग में मनःपर्ययज्ञान प्रवृत्त होता है, ऐसा कहा गया है। परन्तु धवला पु. ९ में कहीं पर भी यह नहीं कहा गया, क्योंकि वे सर्वाविधिज्ञान का विषय परमाणु स्वीकार करते हैं और धवला ९/६३ तथा ६८ के अनुसार मनःपर्ययज्ञान का विषय स्कन्ध बताया है।

जिज्ञासा- केवली भगवान् के योग होने के कारण प्रकृतिबंध तथा प्रदेशबंध होना ठीक है, परन्तु कषाय न होने से स्थितिबन्ध और अनुभाग बन्ध नहीं होने चाहिए?

समाधान- आपका कथन उचित ही है क्योंकि द्रव्यसंग्रह में कहा गया है, ‘जोगापयडिपदेसा, ठिदिअणुभागा कसायदो होंति’ अर्थ- योग से प्रकृति और प्रदेशबंध होते हैं तथा स्थितिबंध और अनुभाग बंध कषाय से होते हैं। परन्तु श्री धवला पुस्तक-१३, पृष्ठ-४९ पर इस संबंध में इसप्रकार कहा गया है- ‘जघन्य अनुभाग स्थान के जघन्य स्पर्धक से अनन्तगुणे हीन अनुभाग से युक्त कर्म स्कन्ध बन्ध को प्राप्त होते हैं ऐसा समझकर अनुभाग बन्ध नहीं है, ऐसा कहा है। इसलिए एक समय की स्थितिवाला

ईर्यापथ कर्मबन्ध अनुभाग सहित है ही, ऐसा यहाँ ग्रहण करना चाहिए।'

भावार्थ- तेरहवें गुणस्थान में जो ईर्यापथ आश्रव-पूर्वक कर्मबन्ध होता है वह एक समय की स्थितिवाला होता है। इसीलिए जिस समय में बंध है उसी समय में उदय स्वरूप होता हुआ, वह अगले समय में निर्जरित होता है। इस एक समयवाले बंध का अनुभाग भी उपर्युक्त प्रमाण

के अनुसार अति-अल्प होता है। अतः सूक्ष्मता की अपेक्षा १३वें गुणस्थान में भी स्थिविबंध एवं अनुभाग बंध मानने योग्य है। यह भी ध्रुवसत्य है कि जहाँ चारों में से एक भी बंध होता है, वहाँ चारों ही बंध होते हैं।

१/२०५, प्रोफेसर्स कॉलोनी
आगरा-२८२ ००२, उ० प्र०

अहिंसा इन्टरनेशनल पुरस्कारों हेतु नाम आमंत्रित

अहिंसा इन्टरनेशनल द्वारा वर्ष २००९ के निम्न पुरस्कारों के लिए प्रस्ताव आमंत्रित हैं-

१. अहिंसा इन्टरनेशनल डिप्टीमल आदीश्वरलाल जैन पुरस्कार राशि (३१०००/-) जैन साहित्य के विद्वान को उनके हिन्दी एवं अंग्रेजी के समग्र साहित्य अथवा कृति की श्रेष्ठता के आधार पर प्रदान किया जायेगा।
 २. अहिंसा इन्टरनेशनल भगवानदास शोभालाल जैन शाकाहार, जीवदया एवं रक्षा पुरस्कार राशि (२१०००/-) शाकाहार प्रसार तथा जीवदया एवं रक्षा के क्षेत्र में कार्य कर रहे कर्मठ कार्यकर्ता को उनके कार्य की श्रेष्ठता के आधार पर प्रदान किया जायेगा।
 ३. अहिंसा इन्टरनेशनल प्रेमचन्द्र जैन रोगीसेवा / चिकित्सा पुरस्कार राशि (२१०००/-) यह पुरस्कार किसी भी डॉक्टर को उसके द्वारा चिकित्सा के क्षेत्र में रचनात्मक कार्य करने पर अथवा किसी भी संस्था को उसके द्वारा रोगी सेवा कार्य करने के आधार पर दिया जायेगा।
 ४. अहिंसा इन्टरनेशनल विजय कुमार, प्रबोध कुमार, सुबोध कुमार जैन पत्रकारिता पुरस्कार राशि (२१०००/-) जैन पत्रकारिता के क्षेत्र में रचनात्मक कार्य करने पर श्रेष्ठता के आधार पर दिया जायेगा।
 ५. अहिंसा इन्टरनेशनल हरिश्चन्द्र रमेशचन्द्र जैन, जैनधर्म प्रचार-प्रसार पुरस्कार राशि (११०००/-) यह पुरस्कार किसी भी व्यक्ति को उसके द्वारा जैनधर्म के प्रचार-प्रसार हेतु श्रेष्ठ कार्य करने के आधार पर दिया जायेगा।
 ६. अहिंसा इन्टरनेशनल धनीचन्द्र देवेन्द्र कुमार जैन, मेधावी छात्र पुरस्कार राशि (११०००/-)। यह पुरस्कार दिल्ली, गाजियाबाद, नोयडा, फरीदाबाद व गुडगाँव जनपद के दसवीं कक्षा में सीबीएसई / आईसीएसई की परीक्षा में कोर विषयों में अधिकतम अंक पानेवाले विद्यार्थियों को दिया जायेगा।
- उपर्युक्त पुरस्कारों हेतु नाम का सुझाव स्वयं लेखक/कार्यकर्ता, संस्था अथवा अन्य कोई भी जाननेवाला व्यक्ति १५.११.२००९ तक निम्न पते पर लेखक, कार्यकर्ता, संस्था के पूरे नाम व पते, जीवन परिचय, संबंधित क्षेत्र में कार्य विवरण व पासपोर्ट आकार के दो फोटो सहित आमंत्रित हैं। पुरस्कार दिल्ली में भव्य कार्यक्रम में सम्मानपूर्वक भेंट किये जावेंगे। अहिंसा इन्टरनेशनल द्वारा लिये गये निर्णय सभी आवेदकों को मान्य होंगे।

सम्पर्क सूत्र-

प्रदीप कुमार जैन, (सचिव) १७४, अशोका इन्क्लेव, पावर हाउस रोड, फरीदाबाद- १२१००१
डॉ. नीलम जैन (सचिव), २७३/१/१, आदर्श नगर, न्यू रेल्वे रोड, गुडगाँव- १२२००२

ए.के. जैन (आई.आर.एस.) सहासचिव
जीवन विला, १११, दरियागंज,
मो. ९३१२४०१३५३ नई दिल्ली ११०००२

मूकमाटी- मीमांसा : दिव्य प्रेम के काव्य की मीमांसा

डॉ० तालकेश्वर सिंह

मूकमाटी-मीमांसा (तीन खण्ड)- सम्पादक : डॉ. प्रभाकर माचवे एवं आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी (आचार्य श्री विद्यासागर जी रचित- 'मूकमाटी' महाकाव्य पर २८३ समालोचकों के आलेखों का संग्रह) प्रत्येक खण्ड में ८०+५५७ पृष्ठ, प्रत्येक खण्ड- मूल्य : ४५० रुपये, तीनों खण्ड- मूल्य : ११०० रुपये; प्रकाशक: भारतीय ज्ञानपीठ।

आचार्य श्री विद्यासागर जी का 'मूकमाटी' महाकाव्य एक वरेण्य कृति है। अध्यात्म और कला के समन्वित धरातल से माटी मूक होकर भी बहुत कुछ कहती है। मौन प्रखर हो गया है। भाषा का परिधान पा गया है। 'शब्द से शब्दातीत तक जाने की यात्रा' को वाणी दे रहे हैं- डॉ. प्रभाकर माचवे। (प्रेरक)

आलोच्य 'मूकमाटी' का विषय और प्रेरक दोनों महासत्ता हैं। आचार्य की दृष्टि में अध्यात्म की नींव महासत्ता है। महासत्ता अणु और महत् दोनों है। उसकी सर्वव्याप्ति असन्दिग्ध है।

घट में मिट्टी के साथ आकाश भी है। आचार्य विद्यासागर जी की दृष्टि में अणु और स्थूल का स्वरूप स्पष्ट है। घट तो स्थूल है, पर उसका घटत्व अणु है, सूक्ष्म है।

निरक्षर और साक्षर का खेल मानसिक व्यायाम मात्र है। अक्षर तो शाश्वत है। 'अक्षरं' न क्षरम् है। इस अक्षर को जो जानता है, वही परम तत्त्व को जानता है। स्वयं पवित्र होता है। पितरों को पवित्र करता है। साक्षर और राक्षस अनुलोम-विलोम की शब्द रचना भर है।

पूर्ण तक पहुँचने का क्रम 'मूकमाटी' में निर्दिष्ट है। आध्यात्मिक चिन्तन का सहजोद्रेक है। एक विलक्षण नैरन्तर्य है। निरन्तरता कहीं भी टूटती नहीं है। प्रसंगोद्-भावना के अनुरूप शीर्षकों का चयन किया गया है।

मिट्टी अनगढ़ है। सुन्दर मूर्ति की सारी सम्भावनाएँ अनगढ़ मिट्टी में विद्यमान हैं। कुम्भ और कुम्भकार अभिन्न निमित्तोपादान कारण के रूप में स्वीकृत हैं।

मनुष्य के जीवन में इच्छा, ज्ञान और क्रिया का सामरस्य अनिवार्य है। 'समरसो लोलिभावः' में ही जीवन का सम प्रतिष्ठित है। परन्तु आचार्यश्री जी कहते हैं कि माँ की 'अपनी कोई इच्छा नहीं होती।' ('मूकमाटी-मीमांसा : xiii') माखनलाल चतुर्वेदी में माँ का ही

अधिग्रहण है। माँ पुत्रों के लिए सोचती है। ऐकान्तिक त्याग करती है। कत्रि समाज के लिए सोचता है। लिखता है। अपनी काव्य-सृष्टि से जाति में, समाज में अभिनव शक्ति-संचार करता है। कवि एक साथ द्रष्टा और स्रष्टा का समाहार है। आचार्य विद्यासागर जी कहते हैं कि युगानुरूप कवि चित्र बनाता है। प्राण का संचार करता है। प्रतिष्ठा करता है।

'युग हमेशा वर्तमान होता है' (आचार्य विद्यासागर) भूत को हम पकड़ नहीं सकते हैं। भविष्य पर अँगुली नहीं रख सकते हैं। 'जो वर्तमान है, वही वर्धमान है हमारा।' (आचार्य विद्यासागर, 'मूकमाटी-मीमांसा' : xiv)। किन्तु अतीत की अतीतता यदि जीवित है, तो वर्तमान की व्याख्या में वह सहायक है। यही इतिहास-बोध है। मृत अतीत का कोई अर्थ नहीं होता है। काल की सरिताधारा महत्वपूर्ण है। कालजयी कृतिकार काल के इस वैशिष्ट्य को पकड़ते हैं। 'मूकमाटी' की काल-धारणा कुछ इसी प्रकार की है। इतिहास-बोध के समाहार से कोई रचना कालजयी बनती है।

आचार्य विद्यासागर जी एक ही संग कवि और संत दोनों हैं। काव्य प्रेरणा सर्वसामान्य नहीं होती है। सन्त विरल होते हैं। किन्तु जहाँ कवि और सन्त दोनों संग हो जाते हैं, वह स्थिति विशिष्ट, अतिविशिष्ट होती है। परम विशिष्ट होती है। स्व और पर के भेद से कवि और सन्त ऊपर होते हैं।

कविता सर्वाश्रित होती है। स्वायत्त भी कह लीजिए। किन्तु स्व में 'पर' और 'स्व' के अंगीकार के अभाव में कविता दिक् और काल से ऊपर उठ नहीं सकती है। जहाँ भाषा का स्वीकार है, वहाँ सम्प्रेषण का अस्वीकार नहीं चल सकता है। कविता यदि भाषा में अभिव्यक्ति है, तो उसके अधिग्रहण के लिए एक अदद पाठक भी चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास का- 'उपजहिँ अनत अनत छवि लह हीं' (मानस : 1.11)- वैश्विक स्तर

पर काव्य रचना और भावन का व्यापक और गम्भीर सिद्धान्त है। सम्भवतः इसीलिए टी.एस. इलियट ने कहा था- "Every reader is a critic and every critic is a good reader." यहाँ भावुक और भावक की संगति निर्मित होती है।

यात्रा पूर्ण होने पर मौन रच जाता है। वाणी विराम पा जाती है। इसीलिए तो डॉ. माचवे ने कहा 'जो आपका काव्य (मूकमाटी) है वह हिन्दी के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि है, हम ये मानते हैं। ऐसी कोई चीज पहले नहीं लिखी गयी और ये कई दृष्टियों से अभूतपूर्व रचना है।' (वही, xxii)। यह बहुत आधुनिक है मेरे मत से, क्योंकि ये विज्ञान के लिए भी प्रेरित करता है। (वही, xxiv)। मैं इसको फ्यूचर पोयेंट्री, यानी भविष्यवादी काव्य, जैसा कि अरविन्द ने कहा, इसे बहुत अच्छा दिशादर्शक मानता हूँ। अन्य कवियों के लिए भी ये बहुत प्रेरणादायक ग्रन्थ है। (वही, xxiv)।

तत्त्वतः यह 'मूकमाटी' अध्यात्म और समाज को एक बिन्दु पर प्रतिष्ठित करने का महत् उद्घोष है। सीमित 'मैं' का असीम 'मैं हूँ' (I am) में पर्यवसान है।

'पातनिकी' (आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी) व्यापक है। शास्त्रोज्ज्वला बुद्धि से सम्पन्न व्यक्ति को पण्डित कहते हैं। काव्य का उत्कर्ष विधायक तत्त्व गुण है और अपकर्ष ही दोष है। तथा गुण-दोष-विवेचन आलोचना नहीं है। आलोचना कृति का सम्यक् मूल्यांकन है। तदपि मूल्यांकन से विशिष्ट है। श्वसनक्रिया की तरह अपरिहार्य है।

'मूकमाटी' लोकमंगल की भावना से लिखी गयी है। (आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी : वही, xxiv)। लेखकीय और पाठकीय संवेदना का यह समाहृत रूप है। आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी के अनुसार इसकी विधा शास्त्र-काव्य की है। 'मा निषाद' (वाल्मीकि) में लोकमंगल का भाव निहित है। वियोग उद्भूत जीवन की गम्भीरतम अनुभूतियों का महाकाव्य वाल्मीकीय रामायण है।

रामप्रधान शान्त रस 'मूकमाटी' का अंगीरस है। काव्य के कथित भेदों में तुलसीदास के अनुसार-

'धुनि अवरैब कबित गुन जाती।

मीन मनोहर ते बहु भाँती॥' (मानस: १.३७)

'धुनि' ध्वनि, 'अवरैब' वक्रोक्ति, तथा 'जाती' स्वाभावोक्ति है। कुन्तक काव्य के दो प्रकार मानते हैं-

स्वाभावोक्ति और वक्रोक्ति। ध्वनि का समाहार वक्रोक्ति में करते हैं। काव्य के ध्वनि, वक्रोक्ति और स्वाभावोक्ति तीन भेद स्वीकृत हैं। 'जाति' स्वाभावोक्ति है। यह एक गूढार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार है। श्रेष्ठ कवियों की दृष्टि सूक्ष्म वर्णन की ओर होती है। उनमें जीवन का सूक्ष्म पर्यवेक्षण होता है। सूक्ष्म पर्यवेक्षण का चित्रमय वर्णन स्वाभावोक्ति है। जायसी, सूर और तुलसी में इसका विशेष आग्रह है। कबीरादि सन्तों में भी सूक्ष्म पर्यवेक्षण की अभिलाषा है। अपनी सीमाओं के बावजूद रीतिकाव्य सूक्ष्म वर्णन का आग्रही है। आधुनिक काव्य में इस ओर प्रवृत्ति है। 'जाति' स्वाभावोक्ति का प्राचीन नाम है: Jati is the old name of swabhavaokti. (Dr. V. Raghavan - Studies on the some concepts of Alankara shastra, p.92) 'नवरस जप तप जोग बिरागा' के भाव-साम्य पर तथ्यतः 'मूकमाटी' में नवों रसों का स्थित्यनुसार समाहार है।

भाषा की सम्प्रेषण-शक्ति अद्भुत है। शब्द और अर्थ के सहभाव में यह काव्य विचारणीय है। सहभाव में सहित का भाव है सबका सार-सँभार ही इसकी प्रतिज्ञा है। गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं-

सब कै सार सँभार गोसाईं।

करबि जनक जननी की नाई॥ (मानस : २.८०)

कवि को शब्द और अर्थ का बल होता है शब्द तो वर्ण-संघात है। वर्ण यानी अक्षर से व्यंजित होनेवाला अर्थ शब्दार्थ मात्र नहीं है। वह तो (अर्थ) जीवन का तात्कालिक अनुभव है। गोस्वामीजी ने कहा है-

'कबिहि अरथ आखर बलु साँचा।

अनुहरि ताल गतिहि नटु नाचा॥'

(मानस : २.२४१)

वेदना और युक्ति को जैनदर्शन के धरातल से किंचित् विस्तार देकर विद्यासागर जी ने भारत के सनातन चिन्तन को अंगीकृत किया है। विष्णुकान्त शास्त्री ने यथार्थ अध्यात्म और रस का 'मूकमाटी' में समन्वय स्वीकार किया है। डॉ. भगीरथ मिश्र ने वैचारिक, आध्यात्मिक और नैतिक तत्त्वों से युक्त संवाद को महाकाव्य कहा है। प्रेरणा के मंगल और मंगल की प्रेरणा का यह काव्य है। माटी मौन में अपनी कथा कहती है। आचार्य राममूर्ति ठीक कहते हैं कि सम्पूर्ण मृत्तिका- घट की आत्मकथा प्रतीकात्मक है। असत्य से हम सत्य की ओर अग्रसर

होते हैं। अविद्या से विद्या की ओर यात्रा शुरू करते हैं। काव्य हेतुओं (प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास) में व्युत्पत्ति का सम्बन्ध संस्कार (संस्कृति) से है। संस्कार की इस उदात्तभूमि पर सत्त्वोद्रेक होता है। फलतः रसानुभूति होती है। सद्यः परिनिवृत्ति के क्षणों में ही कान्ता सम्मत-उपदेश फलित होता है। अतएव 'मूकमाटी'- 'सत्त्वोद्रेकादखण्डस्व-प्रकाशानन्दचिन्मयः' है।

हिन्दी महाकाव्यों की परम्परा में 'मूकमाटी' परिगणनीय है। इस प्रसंग में 'आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी का प्रयास मूल्यांकन का स्वस्थ और सुन्दर आरम्भ है। दर्शन-काव्य इसलिए काव्य होते हैं कि इनका दर्शन संवेदना से जुड़कर अभिव्यक्त होता है। जैनदर्शन का चिन्तन माटी की मूक संवेदना का संमसहृदय-हृदय के आस्वाद का विषय बन गया है। संवाद योजना की दृष्टि से यह 'मूकमाटी' नाटकीय महाकाव्य का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। चरित्र-चित्रण में लेन-देन (Give and take) की प्रक्रिया का भरपूर निर्वाह है। सार्वत्रिक धरातल पर आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी ने 'मूकमाटी' के महाकाव्य का अनुशीलन प्रस्तुत किया है। उनकी सम्पादन-कला और भावशक्ति की यह अद्भुत मिसाल है।

'मनमुख' से 'गुरुमुख' होना ही साम्मुख्य-योग है। यही आचार्याभिमानयोग है। प्रपत्ति का बिन्दु है। गुरु तो 'पूर्वेषामपि गुरुः'-पुराण पुरुषों का भी गुरु है। गुरु की कृपा से ही व्यक्ति सत्संग का सेवन करता है, सन्त सभा में प्रवेश पाता है।

किसी ने इसे 'जीवन का महाकाव्य' (यशपाल जैन) तो किसी ने 'प्रवचन महाकाव्य' (विश्वम्भरनाथ उपाध्याय) कहा है। डॉ. नगेन्द्र इसे 'रूपक महाकाव्य' कहते हैं। प्रस्तुत में आत्म-निर्माण है और अप्रस्तुत में आत्मा की मुक्ति की साधना की व्यंजना है। (वही प्रथम खण्ड, पृ. ३४) डॉ. विजयेन्द्र स्नातक 'आध्यात्मिक आधारवाला प्रथम महाकाव्य' कहते हैं। मिट्टी और मिट्टी के मौन को यहाँ वाणी मिली है।

श्री अरविन्द की 'सावित्री' और मुनि श्री विद्यासागर की 'मूकमाटी' की आधारभूति अध्यात्म है। डॉ. देवकीनन्दन श्रीवास्तव ने दोनों महाकाव्यों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। न केवल 'सावित्री' में अपितु हिन्दी के भक्तिकाव्य में प्रेम एक दिव्य भाव है। वह ब्रह्माण्ड से भी अधिक व्यापक है। प्रेम में तो ईश्वर स्वयं प्रकट

हो जाते हैं।

'अग जगमय सब रहित विरागी।

प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥' (मानस १.१८५)

यह ठीक है कि समग्र विश्व प्रेम में शरण ले सकता है। पर इससे व्यापक और सार्वजनीन तथ्य यह है कि प्रेम में स्वयं ईश्वर उतर आते हैं- 'Heaven itself descend in love' 'गोस्वामी जी विश्वकवि इसलिए हैं कि वे समग्र बिन्दु पर बोलते हैं। विद्यासागर जी ने पृथ्वी की धारणा-शक्ति को अपूर्वता के अनुरूप माटी के विविध पर्यायों को इस काव्य में सार्थकता प्रदान की है। शाश्वत सत्य को उद्घाटित किया है।'

छन्द, अलंकार, भाषा और शैली में एक लय है। काव्य के ये बाह्य तत्त्व भर नहीं हैं। विषय की अन्तरंगता के स्थायी उपकरण हैं। अन्तर्वस्तु से जुड़कर ये लय, शोभा, व्यंजना तथा कथन की भंगिमा को चमत्कृत करते हैं। शैली की भंगिता तो 'मूकमाटी' शीर्षक में प्रतीयमान है। 'माटी' तो स्वयं मूक होती है। फिर उसकी मूकता को संवेदना और सम्प्रेषण से सम्पृक्त करना अद्भुत है। तदपि, 'कामायनी' आधुनिक हिन्दी काव्यधारा का सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

सत् युग और कलि युग को आचार्यश्री बाहरी नहीं, भीतरी घटना मानते हैं। युग-धारण को विचार से जोड़कर चिन्तन को नया आयाम देते हैं। आधुनिक हिन्दी कविता के बहुविध गुण-धर्म विवेच्य कृति में समाहित हैं। दर्शन, धर्म, और अध्यात्म का यह काव्य संकलनत्रय है। डॉ० सूर्यप्रकाश दीक्षित 'मूकमाटी' को 'उत्तर आधुनिक साहित्य की अभिनव उपलब्धि' मानते हैं।

आचार्यश्री दर्शन से अध्यात्म को वरेण्य सिद्ध करते हैं। अध्यात्म स्वाधीन नयन है और 'दर्शन पराधीन उपनयन' है। डॉ० चक्रवर्ती 'मूकमाटी' को 'काव्य की माटी और माटी का काव्य' स्वीकारते हैं। यहाँ धरती की सार्वभौमिक तस्वीर अंकित है, मात्र कृति नहीं है, विकृति का परिहार है। संस्कृति का जयघोष है। श्रमण चेतना का संवेदनशील काव्य है। नायिका माटी है। अतएव यह नायिकाप्रधान काव्य है। कवि ने नारी को उदात्त चरित्र प्रदान किया है।

शुकशास्त्र (श्रीमद् भागवत महापुराण) में बाल कृष्ण ने मिट्टी खाकर उसे अंगीकार किया है। मिट्टी अलंकृत हो गयी है। यही माटी एक बार फिर 'मूकमाटी' में

‘मृत्तिकोपनिषद्’ का दर्जा पा गयी है। (वही, प्रथम खण्ड, पृ. ८७)।

माटी की वेदना कवि की वेदना से समवेत हो गयी है। आदि, मध्य और अवसान का एक ही प्रतिपाद्य है। अनेक प्रक्रियाओं से होकर माटी घट का स्वरूप ग्रहण करती है। पंच महाभूतों और उनकी तन्मात्राओं का माटी में अभिनिवेश है। ‘मूकमाटी’ के समग्र बोध का यही आधार है।

ही और भी के माध्यम से रावण और राम का अन्तर आचार्य विद्यासागर सम्यक् प्रकाश में करते हैं, रावण था ‘ही’ का उपासक/राम के भीतर ‘भी’ बैठा था

यही कारण है कि / राम उपास्य हुए हैं, रहेंगे आगे भी। ‘भी’ के आस-पास। (मूकमाटी : पृ. १७३) ‘मूकमाटी’ के प्रतिपाद्य में ‘भी’ प्रतिष्ठित है। जैनकाव्य परम्परा में राम का महत्त्व स्वीकृत है। स्वयम्भू के ‘पउमचरिउ’ में ‘पउम’ पद्य है। पद्य श्रीराम के लिए स्वीकृत पद है। ‘बंदउँ गुरु पद पदुम परागा’ में गुरु-पद की वन्दना के व्याज से श्रीराम की ही वन्दना है। राम ऐसे ही शाश्वत गुरु हैं। परम गुरु हैं। दैनन्दिन जीवन में प्रयुक्त होनेवाले सामान्य शब्द काव्य में नयी व्यवस्थिति पा जाते हैं। कसावट आ जाती है। विद्यासागर जी ने ऐसे शब्दों में नयी अर्थशक्ति भर दी है। अर्थ-छवि में सुन्दर की विशिष्ट सृष्टि कर दी है। ‘मूकमाटी’ का फलक व्यापक है। व्याप्ति के कारण ही सुधी समीक्षकों ने शिल्प के विविध अभिधानों से इसे युक्त किया है। न तो यह समीक्षा या समीक्षक की सीमा है और न ही विवेच्य काव्य-कृति की। महाकाव्य, अध्यात्मकाव्य, दर्शनकाव्य, प्रबन्धकाव्य तथा खण्डकाव्य की संज्ञाओं से इसे जोड़ा गया है। यह इसकी सीमा नहीं है। विद्यासागर जी एक विशेष की सृष्टि करते हैं। विशेष में अध्यात्म, दर्शन और काव्य तीनों का अन्तर्भाव है। बनाने से यह विशेष नहीं बना है, अपितु स्वयं बन गया है। ‘तत्सुकृतं रसो वै सः’ के करीब स्थापित हो गया है। इसलिए कि वह स्वयम्भू है। रस रूप है। श्लेषगर्भत्व अपने ढंग का है। आचार्यश्री कहते हैं-‘हम हैं कृपाण / हम में कृपा न।’ (मूकमाटी, पृ. ७३)

काल के भाल पर अंकित तुलसीदास के ये शब्द अतल की सिक्तधार हैं-

‘काढ़ि कृपाण कृपा न कहो पितु काल कराल बिलोकी न भाये।’ अध्यात्म की यात्रा दिव्य प्रेम से सम्भव हो पाती है। ‘मूकमाटी’ को दिव्य प्रेम का काव्य कहा जा सकता है। अरस्तू ने भी कहा था- ‘I Saw her shining there is the company of the celestial.’ दिव्य प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए रचनाकार ने प्रतीकों का सहारा लिया है। प्रतीकों के अन्तर से चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया पूरी हुई है। चरित्र टाइप और व्यक्ति दोनों होते हैं। निर्माण के क्रम में पात्र कभी टाइप होता है, कभी व्यक्ति। व्यक्ति ही टाइप को रेखांकित होने का अवसर देता है। टाइप व्यक्ति में समष्टि के प्रवेश का अवसर सृजित करता है।

लोक से लोकोत्तर की यात्रा ‘मूकमाटी’ के काव्य शिल्प में प्रस्तावित है। आचार्य विद्यासागर की कृति-समष्टि का ‘मूकमाटी’ समाहार है। प्रौढ़ है। शिल्प की दृष्टि से एक नवीन खोज है। शब्द का अमर कोश है। जीवन का गीत है। चिन्तन और दर्शन कला के सुन्दर से जुड़ गये हैं। अस्तु। कला, चिन्तन, दर्शन और सुन्दर के समन्वय के काव्य कालजयी बनता है। मिट्टी अपनी कहानी कहती है। शैली आत्मकथात्मक बन गयी है। धर्म, समाज और संस्कृति मिट्टी के अन्तर से मुखर हो गये हैं। समाज दर्शन भी जैनदर्शन के प्रसंग में उद्भावित हो गया है। माटी व्यक्ति और समाज के लिए मंगल घट बन गयी है। यह एक श्रेष्ठ काव्य है। आध्यात्मिक जीवन का उन्मीलन है। सार्वत्रिक प्रेम की जीवन-वेदी पर परिणय है। दर्शन के प्रभावी होने के लिए यह अनिवार्य है कि वह अनुभूति के सम्पर्क में रहे।

‘मूकमाटी’ संश्लिष्ट का काव्य है, विश्लिष्ट का नहीं। ‘गिरा अरथ जल बीच सम’ का ही क्रम-विकास है। ‘मूकमाटी-सप्तक’ का यह अंश समीक्षा का मुहावरा बन गया है-

‘मन्द-मन्द मृदुता से ललित कथा के अंश, छन्द बद्ध जैसे बोल पढ़ो ‘मूकमाटी’ के। शब्द-अर्थ खुलते ही बोलते प्रसंग-रंग, सौम्य बोल अनमोल पढ़ो ‘मूकमाटी’ के। गाथा-लोक, गाथा खोल, अमृत दिया है घोल, अंग-अंग तलातोल पढ़ो ‘मूकमाटी’ के। जीवन के रूप-रंग सभी यहाँ विद्यमान, रुचिकर पृष्ठ खोल पढ़ो ‘मूकमाटी’ के॥

(डॉ. छोटेलाल शर्मा नागेन्द्र, 'मूकमाटी-मीमांसा', प्रथम खण्ड, पृ. ४७५)

जैनमुनियों की परम्परा में यह स्तवन अद्वितीय है। जीवन को उदात्त बनाने की प्रक्रिया 'मूकमाटी' में निहित है। लोक के निमित्त अक्षय कारूप्यधारा है।

रूपकत्व और प्रतीक-योजना में यह विशिष्ट है। 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' (महाभाष्य) का यह प्रतिफलन है। शब्द और अर्थ की नित्यता तो स्वीकृत सिद्धान्त है। इसलिए शब्द और अर्थ के सहभाव से उत्पन्न काव्य-भूमि पर अधिष्ठित होने के अनन्तर ही काव्यास्वाद सम्भव है। आचार्य विद्यासागर जी में वैदिक और श्रमण-चिन्तन का एकीभवन है। जीवन का मंगलाचरण है। अद्वितीय सारस्वत साधना है। वाग्विधान है। आत्मगीत है। डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव 'मूकमाटी' की अपेक्षा इसे 'कुम्भकथा' कहना उचित समझते हैं। (मूकमाटी-मीमांसा, खण्ड २ पृ. ६२)। परन्तु मूकमाटी अभिधा से अधिक व्यंजनाशील है। जड़ चेतन का समाहार होने के कारण संसार-बोध से युक्त है।

**'अनल अनिल जल गगन रसा है,
इन पाँचों पर विश्व बसा है।'**

'रसा' पृथ्वी है। माटी का पर्याय इसे कह सकते हैं। 'मूकमाटी' के शब्द, अर्थ के संवाहक भी हैं और अध्यात्म के प्रतीक भी। यह प्रणिधान का काव्य है, प्रणति कंपित धार से संवलित। मिट्टी के बहाने आध्यात्मिक उन्नयन का प्रयास है। रस, ध्वनि, अलंकार और छन्द तथा अन्तः कल्पना की दृष्टि से यह अनुपम कलाकाव्य है।

वन्दन और अभिनन्दन से अधिक उचित इसका भावन है। भावन के अन्तर से उद्भावित होनेवाला सम्प्रेषण रचना और पाठक के बीच का भाव-सेतु है। लेखक और पाठक की संवेदना का लयीभवन है। काव्य और अध्यात्म संवेदना के धरातल पर एक हो गये हैं। मूक वाचाल हो गया है। भाषा पा गया है। नाटकीय त्वरा से युक्त संवाद पा गया है। मूक में एक स्वर है। एक ध्वनि है। आचार्यत्व और रचनाकार का समन्वय है। जैन काव्य-परम्परा की अनुपम कड़ी है।

मृत्तिका-स्मरण की परम्परा में 'मूकमाटी' पांक्त्य है। मैथिलीशरण गुप्त और दिनकर एवं पन्त और निराला के चिरन्तन काव्य-सत्य के प्रसंग में 'मूकमाटी' विचारणीय

है। गुप्त जी का 'मंगल घट' दिनकर की 'सामधेनी' में अचेतन मृत्ति, अचेतन शिल्प, अज्ञेय की मिट्टी की 'ईहा' तथा पन्त की 'और धरती कितनी देती है' (तारापथ) द्रष्टव्य हैं। डॉ० प्रमोद कुमार सिंह लिखते हैं, 'कामायनी' देव-सृष्टि के अन्तिम प्रतिनिधि के शिवत्व लाभ का आख्यान है, किन्तु 'मूकमाटी' तुच्छता की उच्चता-प्राप्ति का महाकाव्य है। (वही, खण्ड २, पृ. १८४)।

धरती की गन्ध में जल का रस मेघ अभिसिंचित करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं-

बरषहिं जलद भूमि निअराएँ।

जथा नवहिं बुध विद्या पाएँ॥ (मानस : ४.१४)

जल के भार से जलद पृथ्वी पर झुकते हैं और बरसते हैं। कृषि-संस्कृति अथवा गृहस्थ जीवन में विद्या पाकर विवेकी विनयशील हो जाते हैं।

विशद-आयामी कृति होने के कारण 'मूकमाटी' की मीमांसा में कहीं काव्य-सिद्धान्तों की गलत व्याख्या हो गयी है। कवि की संवेदना से दूर इसे कोई दार्शनिक कृति कहते हैं। डॉ० श्रीधर वासुदेव सोहोनी के विचार (वही, खण्ड ३ पृ. ८) अतीव सारगर्भित हैं। बाणभट्ट के 'शब्द रत्नाकर' में भूमि के छत्तीस नाम अंकित हैं। आचार्य विद्यासागर जी ने सभी नामों की काव्यात्मक गूँज को 'मूकमाटी' में ध्वनित किया है।

दिक् और काल का प्रभाव रचना पर अवश्य पड़ता है। डॉ० प्रेमशंकर कहते हैं- 'मूकमाटी' का कवि अपने समय से बेहद विक्षुब्ध है और इस सात्विक आक्रोश के लिए कलिकाल वर्णन का सहारा लिया गया है, भागवत और तुलसीदास की तरह। (वही, खण्ड ३, पृ. १२)। कई दृष्टियों से 'मूकमाटी' का शिल्प अभिनव है। (वही, खण्ड ३, पृ. १५)।

सूक्तिप्रयोग में 'मूकमाटी' का कवि सिद्ध है। कालिदास में सूक्तियाँ हैं। वाल्मीकि और तुलसीदास में सूक्तियाँ हैं। ऋग्वेद के सूक्तों का लघु रूप सूक्तियों को कहा जा सकता है। सूक्त या सूक्ति सिद्धान्त-वाक्य हैं।

तत्त्वदर्शी कवि तत्त्वों को देख लेते हैं। माटी को कबीर, सूर, तुलसी आदि ने देखा है- (क) 'माटी कहे कुम्हार से'- कबीर, (ख) मोहन काहे न उगलत माटी-सूर, (ग) छिति जल पावक गगन समीरा- तुलसी, (मानस : ४.११)। डॉ० आनंदप्रकाश दीक्षित 'मूकमाटी' को 'मुक्ति की मंगल-यात्रा' कहते हैं। (वही, खण्ड ३, पृ. ६०)।

यह आत्मा का अमर संगीत है। मनुष्य का संवेदन-गीत है। प्रो० (डॉ०) सत्यरंजन वन्दोप्राध्याय 'मूकमाटी' को 'तपस्या के द्वारा अर्जित जीवन-दर्शन की अभूतपूर्व अनुभूति' कहते हैं। (वही, खण्ड ३, पृ. ७९)।

अन्वेषण की तत्परता सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। यह कला की साधना और साधना की कला है। 'कीरति भनिति भूति' (मानस १.१४) में सबका हित-चिन्तन निहित है। विद्यासागर जी के संस्कृति-चिन्तन में सत्य, अहिंसा और करुणा का समाहार है। एक नयी काव्यात्मक पहचान के साथ 'मूकमाटी' का रचना-धर्म अस्तित्व ग्रहण करता है। ठीक है- 'माटी की अन्तर्व्यथा 'मूकमाटी' में करुणा की कोमल रागिनी बन गयी है।' (वही, खण्ड ३, पृ. १५०)। सत्य है- 'बाहर की सुगन्ध से तेज भीतर की सुगन्ध होती है, जो गुरु कृपा से अन्तर में बहती है।' (वही, खण्ड ३, पृ. १५६)।

यह परिपक्व मानस की उपज है। डॉ० नामवर सिंह ने 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' (पृ. १८३) नामक पुस्तक में जैनसाहित्य (प्राचीन) का विशिष्ट मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। स्वयम्भू, पुष्पदन्त, धनपाल, जोइन्दु (योगीन्द्र), रामसिंह, राजशेखर, शालिभद्र आदि की परम्परा में विद्यासागर का विचार अपेक्षित है। व्यक्ति के सही रूप प्राप्त करने की दिशा में यह एक विलक्षण प्रयास है।

'रामचरितमानस' विश्वकाव्य है। 'मूकमाटी' भी विश्वकाव्य की अर्हता प्राप्त कर सकती है। 'इस प्रकार 'मूकमाटी' एक साहित्यिक और आध्यात्मिक कृति है जो विश्व के मानवों को जीने का रहस्य बतलाती है।' (वही, खण्ड ३, पृ. १९३)।

कुम्भकार गुरु है। अनगढ़ को गढ़ता है। मिट्टी के लोंधे को सुन्दर आकार प्रदान करता है। गुरु दया करता है। क्षमा करता है। सन्त वाणी में क्षमा का बड़ा महत्त्व है। विद्यासागर जी क्षमा को काफी अहमियत देते हैं।

बिम्ब-विधान काफी प्रौढ़ हैं। 'विस्मित लोचन',

'सस्मित अधर', 'कज्जल काली धूम', 'प्रकाश पुंज', 'आगामी अन्धकार' आदि विलक्षण बिम्ब-विधान हैं। अमूर्त का मूर्तीकरण और जड़ का मानवीकरण अद्भुत है। 'दिव्य चैतन्य बोध ही कवि का अन्तस्तल है, जो आपार करुणा से झिलमिल करता है। (वही, खण्ड ३, पृ. ३३२)। काव्यशैली अर्थ-विस्तार की द्योतक है।

जैनदर्शन को संवेदना के धरातल से कवि ने जोड़ दिया है। माटी का माटी के लिए लिखा यह सन्त काव्य है। साधना और संवेदना का समानान्तर है। माटी के बहाने लघु मानव को वाणी प्रदान की गई है। 'मूकमाटी' का सन्देश है-

'आत्म-ज्योति की दीपशिखा को,
आगम पथ पर मढ़ लेते हैं,
मूकमाटी की मूक व्यथा को,
अन्तरतम में गढ़ लेते हैं।
सात तत्त्व के सही रूप को,
प्रतिपल जो जीवन में गढ़ते,
वही मूकमाटी को घट में,
मंगल कलश रूप दे मढ़ते॥'

(वही, खण्ड ३, पृ. ४८२)

'मूकमाटी-मीमांसा' के तीन खण्डों में देश-विदेश के २८३ समालोचकों के विविधविध विचार संकलित हैं। विवेच्य काव्य के आयाम का विस्तार ही वैचारिक विशदता का मूल है।

मूलतः 'मूकमाटी' 'विरति विवेक संयुत हरि भगति पथ' का काव्य है। समर्पण का गीत है-

'मूकमाटी' सृजन का समर्पण करता हुआ-
'गुरुचरणारविन्द चंचरीक'

('मूकमाटी' रचयिता की 'हस्तलिपि' से)

पूर्व विश्वविद्यालय आचार्य
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
मगध विश्वविद्यालय, बोधगया, बिहार-
८७४२३४

आवास- अशोकनगर, गया- ८२३००१, बिहार

सूचना : मूकमाटी-मीमांसा के तीनों खण्डों का बाह्य रूप अन्तिम आवरण पृष्ठ पर देखिए।

समाचार

गौरेला पेण्डुरोड

साधना शिरोमणि आचार्य श्री विद्यासागर जी ने पावनभूमि अमरकण्टक में परिश्रम का महत्त्व बताते हुए कहा कि रागी चिन्ता में रात व्यतीत करता है, वीतरागी रात्रि में भी चिन्तन करते हैं। वैराग्य की कथा से भीतर की आँख खुलते ही व्यथा समाप्त हो जाती है।

भारत में प्राचीन काल से नानी, दादी की कथा के माध्यम से ज्ञान और संस्कार की धारा प्रवाहित होती रही है। बाल्यकाल में इन कथाओं को सुनते-सुनते नींद आ जाती थी, किन्तु कालान्तर में इन्हे स्मरण करते ही आँख खुल जाती थी। ज्ञान संस्कार की कथा का क्रम वर्तमान काल में टूटता प्रतीत होता है, परिवार में नानी माँ, दादी माँ की स्थिति कैसी है? इससे सभी भलीभाँति परिचित हैं, पूर्वकाल में ये कथाएँ संस्कार की पाठशाला थीं। आचार्यश्री ने बताया कि दादी, नानी चली जाती हैं, उनके द्वारा कही कथा एक आदर्श बन जाती है। पौराणिक कथा और आज की कथा में भी अन्तर है। युग बीत गया, युगान्तर में भी पौराणिक कथा प्रेरणा दे रही है। सुनते हैं पौराणिक कथा पर भी कुछ शोध का प्रयत्न हो रहा है। आचार्यश्री ने कहा कि संसार में किसकी सत्ता है? पृथ्वी, पर सत्ता का अधिकार बतानेवाले कितने आए और कहाँ गए, कोई गणना ही नहीं, वस्तुतः संसार पर सत्ता की सोच ही अनुचित है, जिसका विनाश हो वह कैसी सत्ता? अविनश्वर सत्ता तो आत्मसत्ता है पर सत्ता का अधिकार रखना चाहते हैं, निजसत्ता से सदा दूर हैं। युग के आदि में भी चक्रवर्ती भरत ने सत्ता के लिए अपने भाई बाहुबली पर चक्र चलाया था, यह छीनाझपटी किसके लिए है? जिसका विनाश होना है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी ने पुरुषार्थ का महत्त्व बताते हुए कहा है कि परिश्रम करनेवाला दिन रात एक कर देता है, तात्पर्य है कि परिश्रमी के लिए रात्रि भी दिन की भाँति प्रकाशवान होती है, परिश्रम का परिणाम प्रकाशमय होता है, यह समझाते हुए कहा कि पुरुषार्थहीन के लिए दिन भी रात्रि के अंधकार समान हो जाता है। रागी चिन्ता में रात बिताता है वीतरागी रात्रि में भी चिन्तन करते हैं। विषय भोगों में व्यस्त प्राणी अंधकार

में रहता है, अंधकार की तलाश में रहता है। भगवान् सदा प्रकाशवान हैं क्योंकि उनके दरबार में अंधे नहीं अंधेरा होता ही नहीं, यहाँ रात-दिन एक समान-सदा रहते प्रकाशवान। संयम पुरुषार्थ के पास पाप कभी नहीं आता। आचार्यश्री ने कहा कि महानगरों में यातायात व्यवस्थित रखने के लिए वाहनों को बाह्य मार्ग से चलने का निर्देश दिया जाता है। इन मार्गों से चलनेवाले नगर के भीतर के वैभव से वंचित रह जाते हैं, ऐसे ही बाह्य रूप में भटकता प्राणी भीतर के वैभव से अपरिचित रह जाता है। अनन्त काल से चक्कर लगा रहा है, किन्तु परिक्रमा कभी पूर्ण नहीं हो रही। ज्ञान पर लोभ की परत चढ़ जाती है, तथा जड़ धन के चक्कर में आत्मधन छूट जाता है, आचार्यश्री ने एक पौराणिक कथा के माध्यम से ज्ञान की अनुभूति कराते हुए बताया कि दयाधर्म ही मूल्यवान सम्पदा है, जिससे अनन्तकालीन दरिद्रता समाप्त हो जाती है। दादी माँ, नानी माँ की कथा स्मरण कर ज्ञान और संस्कार का बोध हो जाता है, यह जिनवाणी। दादी माँ के माध्यम से कथा सुनी थी, भीतरी आँख खोलने के लिए कथा का प्रभाव होते ही समस्त व्यथा समाप्त हो जाती है। करोड़ जिह्वा की कथा से व्यथा का अन्त नहीं होता, वैराग्य की एक कथा से सार समझ में आ जाता है। असार संसार की वास्तविकता प्रकट हो जाती है।

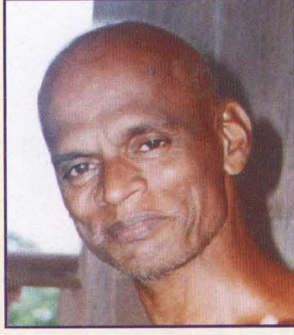
वेदचन्द्र जैन

वर्णी जयन्ती हर्षोल्लास पूर्वक सम्पन्न

दिनांक ८.९.२००९ को श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के प्रांगण में विद्यालय के संस्थापक परम पूज्य १०५ गणेश प्रसाद जी वर्णी की १३५ वीं जयन्ती परमपूज्य उपाध्याय श्री निर्भय सागर जी महाराज के ससंघ सान्निध्य में मनाई गई।

कार्यक्रम का संचालन करते हुए विद्यालय के अधिष्ठाता डॉ. फूलचन्द्र जी जैन 'प्रेमी' ने विद्यालय के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए बताया कि किन विषम परिस्थितियों में वर्णी जी ने इस महाविद्यालय की स्थापना की। वर्णी जी द्वारा स्थापित इस महाविद्यालय ने हजारों जैनविद्वानों को जन्म दिया।

सुरेन्द्र कुमार जैन



दशधर्म

(वसन्त तिलका छन्द)

- मुनि श्री योगसागर जी

१

है रत्न उत्तम क्षमा महिमा निराली।
ये स्वर्ग मोक्ष सुख वैभव को दिलाती ॥
ये क्रोध को स्वपरनाशकता रही है।
ये गंगनीर सम शीतलता रही है ॥

२

अम्बोज मार्दव खिला कर शोभता है।
दुर्गन्ध मानमद आदि निवारता है ॥
ये तो सदा विनय सौरभ को बहाये।
सद् भावना सलिल में तुम को दिखाये ॥

३

कौटिल्यता गरल जीवन में न आये।
पीयूष आर्जवमयी निज को बनाये ॥
वात्सल्य प्रेम ऋजुता झरणा बहाये।
हर्षीत जीवन सदा हम को दिखाये ॥

४

यों लोभ ही अशुचि जीवन को बनाया।
अज्ञान के तिमिर में सब को भ्रमाया ॥
सन्तोष ही अशुचि पाप निवारता है।
आत्मीय वैभव तुम्हे सहसा दिलाये ॥

५

उद्योत सत्य उर के तम को मिटाये।
वर्षा करे अभय की भय को हटाये ॥
है सत्य का बल अजेय अनन्तता है।
मोहारि भी चरण शीश झुका दिया है ॥

६

पावित्र्य संयम बिना शिव को न पाये।
अध्यात्म का अमृतपान यही कराये ॥
संसारतारक जहाज यही रहा है।
सौभाग्य का विषय है नर साधता है ॥

७

नोकर्म को विविध पावक तो जलाये।
दुष्टाष्ट कर्म इन को न जला सके ये ॥
है एक मात्र तप ही विधि को जलाये।
यों वीतराग जगदीश्वर देशनाये ॥

८

जो पंच पाप तज के वन को चले हैं।
स्वर्गीय वैभव जिने तृण सा लगे हैं ॥
वैराग्य का उदय भानु जगा दिया है।
जो मोह नींद अब तो न सता रही है ॥

९

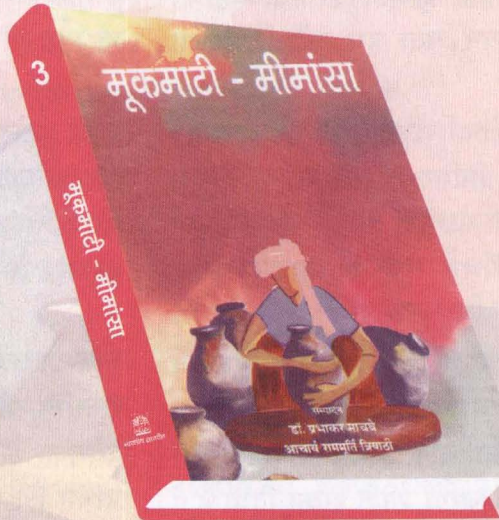
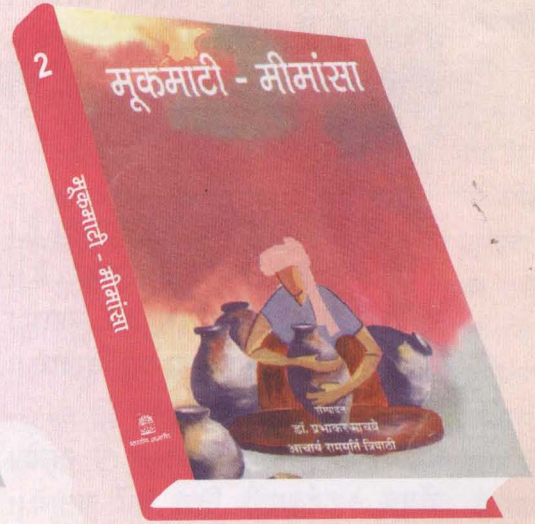
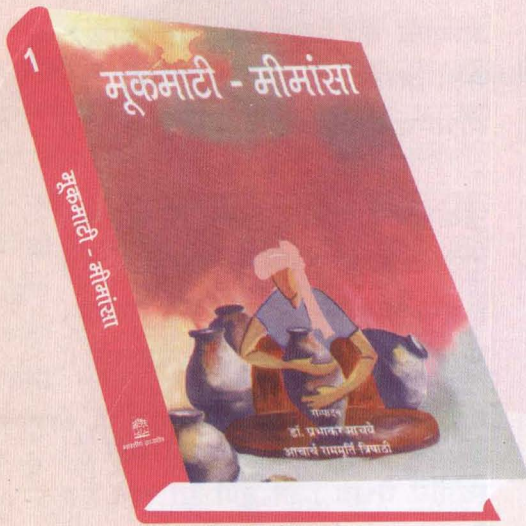
बाहर भीतर परिग्रह अंश ना है।
जो पारदर्शक दिगम्बर साधुता है ॥
जो निर्विकल्प परमोत्तम ध्यान द्वारा।
जो पाप के दहन से निज को निहारा ॥

१०

आनन्द ब्रह्म रस में रमते सदा हैं।
दावाग्नि सा मदन-ताप बुझा दिया है ॥
संवेदना न तन की करते कहाँ है।
अत्यंत भिन्न तन को लखते सदा हैं ॥

प्रस्तुति - प्रो० रतनचन्द्र जैन

प.पू. आचार्य श्री विद्यासागर जी द्वारा रचित
अद्वितीय महाकाव्य 'मूकमाटी' पर
२८३ काव्यमर्मज्ञों द्वारा लिखी गयी
समीक्षाओं का संग्रह
तीन खण्ड



प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ